UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186068

UNIVERSAL
LIBRARY

हिन्दू विवाहमें कन्यादानका स्थान

श्री सम्पूर्णानन्द जी

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रंथमाला हिन्दी ग्रंथांक—२९

हिन्दू विवाह
में
कन्यादानका स्थान

●

सम्पूर्णानन्द

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

सर्वोदय साहित्य मन्दिर.
हुसैनी अलम रोड, हैद्राबाद (द.) नं. २

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० ए०

प्रकाशक
अयोध्याप्रसाद गोयलीय
मंत्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस

प्रथम संस्करण
१९५४
मूल्य एक रुपया

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस,
इलाहाबाद

विषय-सूची

भूमिका ७

पहिला अध्याय—समाजमें स्त्रियोंका स्थान ९–२३

दूसरा अध्याय—कन्यादान और हिन्दू विवाहमें उसका महत्त्व २४–३२

तीसरा अध्याय—कन्यादानकी वैधता ३३–४९

चौथा अध्याय—कन्यादानका वास्तविक भाव ५०–६०

आधार पुस्तकोंकी सूची ६१

हमारा यह प्रकाशन

विद्वद्वर श्री सम्पूर्णानन्दजीकी यह नवीनतम कृति इतनी महत्वपूर्ण है कि इसे अपने विषयकी 'क्रान्तिकारी' रचना कहा जा सकता है। साधारणतया पुस्तकका शीर्षक देखकर पाठक सोचेंगे : "अच्छा, 'कन्यादान'के विषयमें है यह किताब ! हाँ, कन्यादान तो हिन्दू विवाहका प्राण ही है। उसीकी महत्ता विद्वान् लेखकने प्रमाणित की होगी।" पर, वास्तवमें पुस्तकका अध्ययन पाठकोंको चौंकायेगा और यह सोचनेके लिए मजबूर करेगा कि 'कन्यादान' जैसी भ्रामक शब्द योजना हम शताब्दियोंसे आजतक क्यों वहन करते चले आये हैं ? संक्षेप में यह, कि कन्यादानसे न किसी 'स्वत्व'का सर्जन होता है, न विसर्जन, न हस्तान्तरण। न ही कन्या कोई चल या अचल 'सम्पत्ति' है कि उसका 'दान' किया जाये। कन्यादान तो एक वैधानिक अलीक (Legal fiction) है।

विवेचन शास्त्रीय होते हुए भी, इसकी पार्श्वभूमि विस्तृत है और दृष्टिकोण व्यापक। पुस्तक विदेशीय तथा भारतीय संस्कृतिमें स्त्रियोंकी सामाजिक अवस्थाके संक्षिप्त क्रमिक विकासकी झाँकी देती है। भारतीय दर्शन और संस्कृतिके प्रति अपनी अविचल श्रद्धाके बावजूद भी, मान्य लेखकने प्रायः प्रत्येक प्रासंगिक उद्धरण या मान्यताको तर्ककी कसौटीपर कसा है और संतुलित दृष्टिकोण उपस्थित करनेकी चेष्टा की है। जहाँ इसमें वेदवर्णित 'सम्राज्ञी श्वसुरे भव'का उल्लेख है वहाँ वाल्मीकि रचित राम-वाक्य "न त्वदर्थ मया कृतः" [हे सीता ! यह युद्ध मैंने तुम्हारे लिए नहीं किया] का भी। इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य आदिकी अनेक ऐसी व्यवस्थाओंका भी उल्लेख है जिनसे कई स्थानोंपर दुविधा उत्पन्न हो जाती है। इन दुविधाओंका परिहार यहाँ मिलेगा।

पुस्तक देखनेमें छोटी है, पर इसके पीछे ओजस्वी लेखककी दीर्घ ऊहापोह और लगभग ४० ग्रन्थोंका संदर्भ-श्रम है।

पुस्तकके निष्कर्षके विषयमें सभी एकमत हों, यह तो आशा नहीं की जा सकती, क्योंकि प्रश्नसे प्रश्न उठते ही हैं—और ऐसे विषयपर अनेक शास्त्रोंके अनेक प्रमाण तथा अनेक युगोंकी अनेक विपरीत घटनायें मिलती हैं जिनका संकेत स्वयं लेखकने कर दिया है—किन्तु यह निश्चित है कि पुस्तक विचारोंको उत्तेजना देगी और हमें उस विचार परम्परासे उन्मुक्त करेगी जो युगके अनुकूल नहीं, और जो अपनी प्राचीन विकसित संस्कृतिके भी अनुकूल नहीं।

ज्ञानपीठकी ओरसे हम मान्य सम्पूर्णानन्दजीके आभारी हैं कि उन्होंने इस रचनाके प्रकाशनका श्रेय हमें दिया। ज्ञानपीठके संस्थापक श्रीयुत् साहू शान्तिप्रसाद जैनके प्रति भी हम कृतज्ञ हैं कि उन्होंने विद्वान् लेखकसे सांस्कृतिक चर्चाके प्रसंगमें इस रचनाका पता पाकर, हमारे लिए यह उपलब्ध कर दी।

पुस्तकमें जो महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया गया है, उसके प्रति अन्य विद्वानोंकी प्रतिक्रियाका परिचय पाकर हमें प्रसन्नता होगी।

लखनऊ,
२५ फ़रवरी १६५४]

लक्ष्मीचन्द्र जैन
सम्पादक
लोकोदय ग्रन्थमाला

भूमिका

आजसे पचीस वर्ष पहिलेकी बात है। मेरी लड़कीका विवाह हुआ था, विवाहमें कन्यादान भी हुआ। उस अवसरपर श्री व्रजबिहारी राय एम० ए०, एल एल बी० ने, जो इस समय कौंसिल आव स्टेट्सके सदस्य हैं, मेरा ध्यान इस ओर आकृष्ट किया कि कन्यादानमें उदात्त भावोंकी अभिव्यक्ति नहीं होती। मैंने दो एक पुस्तकें देखीं और दैनिक आजमें इस सम्बन्धमें एक लेख भी लिखा। बात प्रायः वहीं समाप्त हो गई।

परन्तु यदा कदा एतद्विषयक विचार उठते रहे। सार्वजनिक कामोंने जमकर अध्ययन करनेका अवकाश नहीं दिया परन्तु उधरसे ध्यान हटा नहीं। मै अब इस कामको पूरा कर पाया हूँ। मैंने यह प्रयत्न किया है कि किसी पक्षके साथ अन्याय न हो। यदि मेरे अभिमत सिद्धान्तके विरुद्ध कोई प्रमाण मिला है तो मैंने उसे जानबूझकर नहीं छोड़ा है और न कहीं मूलके अर्थको तोड़ने मरोड़नेका यत्न किया गया है।

एक अपराध स्वीकार करता हूं। मुझे भारतीय दर्शनमें अविचल श्रद्धा है। मेरा ऐसा विश्वास है कि दर्शन केवल चित्तविलासकी सामग्री नहीं है वरन् मानव जीवनको उत्कृष्ट बनानेका श्रेष्ठतम साधन है। मेरी ऐसी निष्ठा है कि प्राचीन आचार्य्योंने---ऋषियों, मनुओं, पथिकृत पूर्वजोंने---जीवनके सभी अंगोंको आध्यात्मिकतासे ओतप्रोत बनानेका यत्न किया था, प्रत्येक मनुष्यके जीवनको व्यावहारिक वेदान्तका चल प्रबन्ध काव्य बनाना चाहा था। उनका उद्देश्य यह था कि पदे पदे उस एकताकी अनुभूति होती रहे जो जगत्‌के नानात्वका धरातल है। जब मैं कहीं इस आदर्शसे स्खलन देखता हूँ, स्वार्थको सिर उठाते देखता हूँ, तो मुझे सहज चिढ़ होती है। और मेरा अबतकका अध्ययन यह बतलाता

है कि उस प्राचीन पथसे हम पिछले सहस्र वर्षोंमें ही अधिकतर हटे हैं। विदेशी शासनने हमारी बुद्धि कुण्ठित कर दी, हमारी आध्यात्मिक चेतनाको मंद बना दिया। परिणाम यह हुआ कि जहां शुद्ध सोना था वहां बहुत सी मिट्टी आ गई, पुरानी बातोंके साथ प्रक्षिप्त सामग्री मिल गई। पुराने रूपको पहिचानना कठिन हो गया।

विवाह मनुष्यके जीवनका सबसे महत्त्वपूर्ण काम है और यह सर्वथा उचित है कि धर्म्मगुरु और शासन उसकी ओर पूरा पूरा ध्यान दें। विवाहके टीक टीक सम्पन्न होनेपर, विवाहजनित कर्तव्योंको यथार्थ रूपसे समझ लेने पर, केवल पति-पत्नीका सुख सौभाग्य निर्भर नहीं होता। कई पीढ़ियों तक उनकी सन्तान और अन्ततोगत्वा समूचे समाजका हिताहित इसके साथ अनुबद्ध है। विवाहमें केवल वर-कन्याको सामने नहीं रखना है, अजात सन्तति और उस समाजको भी सामने रखना है जिसके वह नागरिक हैं। स्त्री पुरुष तो यों भी साथ रह सकते हैं, आजकल उनके मिलकर रहने और इस सहवाससे उत्पन्न सन्तानको वैध बनानेके उपाय निकलते ही रहते हैं, परन्तु विवाह इससे ऊँची और व्यापक वस्तु है। कमसे कम आर्य्य विचारकोंने ऐसा ही माना था। वह संसारी समझौता नहीं वैदिक संस्कार है, देवोंको साक्षी बनाकर सम्पन्न पवित्र कृत्य है। उसको फिर प्राचीन रूप देकर दाम्पत्यको सुखी और उदात्त और जीवनको अर्थगर्भ बनाना है।

आज जिस प्रकार कन्यादान होता है उससे उसका वास्तविक उद्देश्य छिप गया है और उसके महत्त्वपर पर्दा पड़ गया है। उस रूप और उस उद्देश्यको फिर जनसाधारणके सामने लाना आवश्यक है।

लखनऊ
भाद्र कृष्ण १, २००८

सम्पूर्णानन्द

पहिला अध्याय

समाजमें स्त्रियोंका स्थान

[१] हिन्दू समाजके बाहर

इस पुस्तकका उद्देश्य तो हिन्दूसमाजकी विवाहपद्धतिके एक विशेष अंगका अध्ययन करना है परन्तु दूसरे समुदायोंमें स्त्रियोंका जो स्थान रहा है और उस स्थानके कारण विवाहका जो स्वरूप रहा है उस पर दृष्टिपात करनेसे प्रकृत विषयको समझनेमें सहायता मिल सकती है। जिन मानव-समुदायोंको देश और कालने एक दूसरेसे पृथक् कर रक्खा था उनके विचार किस प्रकार समय समयपर टकराते रहे हैं यह स्वयं अध्ययनके लिए रोचक विषय है।

यूनानियोंके सम्बन्धमें विशेष वक्तव्य नहीं है। यह जाति यूरोपमें सभ्यता और संस्कृतिकी अग्रदूत थी और इसका सिक्का उन लोगोंपर भी बैठा हुआ था जो युद्धक्षेत्रमें इसपर विजय पा चुके थे। परन्तु स्त्रियोंके सम्बन्धमें इन लोगोंके विचार बहुत ही अनुदार थे। 'ए शार्ट हिस्टरी आव विमेन' में डेयर्स कहते हैं कि प्राचीन यूनानमें स्त्रियोंका दर्जा शाक-भाजियोंके बराबर था। यूनानने अफ़लातून और अरस्तू जैसे दार्शनिकोंको जन्म दिया जिनके विचारोंका आज भी सर्वत्र आदर है। विज्ञान, राजनीति, दर्शनके क्षेत्रोंमें मनुष्यने शताब्दियोंतक यूनानका नेतृत्व स्वीकार किया परन्तु दुःखकी बात है कि यूनानी विद्वानोंका ध्यान स्त्रियोंकी परिस्थितिकी ओर नहीं गया। यों तो अपने व्यक्तित्वके बलपर स्त्री अपने लिए जगह बना ही लेती है परन्तु समाजकी उत्कृष्टता तो इस बातसे जांची जाती है कि उसके विद्वान् और विधान स्त्रियोंको कैसी जगह देते हैं।

आरम्भमें रोमकी भी यही अवस्था थी। वहाँ भी स्त्रियोंका स्थान बहुत नीचा था। ऐसा माना जाता था कि पिता अपनी सन्तानका पूर्ण स्वामी है, उसको सन्ततिके जीवनपर पूरा अधिकार है और यह अधिकार प्राणदण्डकी सीमा तक जा सकता है। पिताके जीवनकालमें इस स्वत्वकी समाप्ति नहीं हो सकती थी। पिताके मरनेपर लड़का तो इस बन्धनसे मुक्त हो जाता था क्योंकि ऐसा माना जाता था कि पुरुष होनेके कारण वह पिताका स्थान लेनेकी क्षमता रखता है परन्तु लड़कियोंमें यह क्षमता कभी भी नहीं होती। इसलिए पिताकी मृत्युके बाद भी वह स्वतंत्र नहीं हो सकती थी। यदि पिता अपने जीवनकालमें कोई अभिभावक नियुक्त कर गया हो तो लड़की उसके अधीन रहती थी अन्यथा घरमें जो कोई भी पुरुष बड़ा होता था वही उसका संरक्षक हो जाता था। स्त्रीके लिए नित्य पारतंत्र्यका सिद्धान्त सर्वमान्य था। इस सिद्धान्तका विवाहपर विलक्षण प्रभाव पड़ता था। लड़की तो यावदायु पिताकी सम्पत्ति थी पर उसको रहना था पतिके घर। एक ही प्राणीपर दो व्यक्तियोंका अधिकार व्यवहारसुकर न होता। अतः यह माना जाता था कि पिताका स्वत्व पतिमें चला गया और पति पत्नीके लिए पितृस्थानीय हो गया। दूसरे शब्दोंमें लड़की पतिकी दुहितृस्थानीया हो गई। सम्पत्ति उसके पास न पीहरमें थी, न ससुरालमें। यदि पति मरनेसे पहिले कोई अभिभावक नियुक्त कर जाता था तो वह उसकी देखभाल करता था, नहीं तो पुत्र या अन्य बड़ा पुरुष सम्बन्धी उसको अपने तंत्रमें रखता था।

काल पाकर यह परिस्थिति बदली। जब रोमन साम्राज्य फैला तो रोमन लोग दूसरे राष्ट्रोंके सम्पर्कमें आये जिनमें कुछ तो उनसे अधिक सभ्य और संस्कृत थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उनके सभी विधान और नियम धीरे-धीरे बदले। इसका प्रभाव वैवाहिक नियमों पर भी पड़ा। यह माना जाने लगा कि पत्नी अपने पिताकी सम्पत्ति होते हुए भी अस्थायी रूपसे पतिके पास धरोहरकी भांति रख दी जाती है परन्तु सम्पत्तिके विषयमें

वह पिताके ही अधीन है। क्रमशः लड़कीकी सम्पत्ति पर पिताके अधिकार ढीले होते गये परन्तु पतिके अधिकार बढ़ाये नहीं गये। फलतः स्त्री अपनी सम्पत्तिकी स्वतंत्र स्वामिनी हो गई।

जब रोमन साम्राज्यकी परिधिके भीतर बहुतसे बर्बर, अर्द्धसभ्य और सभ्य राष्ट्र आये और रोमको अपने बराबरके राज्योंसे सन्धि समझौते करने पड़े तो बहुत सी वैधानिक समस्याएं उपस्थित हुईं। उनका सुलझाव पुराना रोमन विधान नहीं कर सकता था। परन्तु रोमन विधानाचार्योंने मार्ग ढूंढ़ निकाला। उन्होंनें दृष्टि फैलाकर देखा कि सभी जातियोंके विधानोंमें कुछ बातें समानरूपसे पाई जाती हैं। जंगलियोंके अलिखित व्यवहारमें भी बीजरूपेण उनका अस्तित्व है। उनके बिना मात्स्यन्यायसे मनुष्य मनुष्यको खा जाय और समाजका अस्तित्व ही मिट जाय। विधानके पंडितोंने इससे यह निष्कर्ष निकाला कि प्रकृतिने स्वयं मनुष्यके हृदयमें कुछ सिद्धान्त रख दिये हैं। इनको उन्होंने प्राकृतिक विधानका नाम दिया और ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तोंके समुच्चयके आधारपर साम्राज्यकी वैधानिक कठिनाइयोंको सुलझाया। इसका प्रभाव और बातोंके साथ साथ स्त्रियोंकी स्थितिपर भी पड़ा। 'एंशेण्ट लॉ' में मेनने लिखा है—"प्राकृतिक विधानके सिद्धान्तके फलस्वरूप विधानशास्त्रियोंने अपने न्यायविधि-संग्रहके आधारभूत सिद्धान्तोंमें स्त्री-पुरुषकी बराबरीकी बात मान ली थी। पिताका अपनी पुत्रीके शरीर पर स्वत्व, उसको बेचने और प्राणदण्ड देनेका अधिकार, पूर्णतया लुप्त हो गया था और स्त्रीको अपनी सम्पत्तिका प्रबन्ध करनेका अबाध अधिकार प्राप्त हो गया था।"

उत्तरी यूरोपकी नॉर्डिक जातियोंमें भी, जो आजकलके अंग्रेजों, जर्मनों और इनसे मिलते जुलते जनपदोंकी पूर्वज थीं, पिताको प्रायः ऐसे ही अधिकार प्राप्त थे। परन्तु उन्होंने पतिको पितृतुल्य पद देनेकी जगह दूसरा ही उपाय निकाला था। विवाहके समय वर कन्याके पिताको मूल्य देकर उस स्त्रीके शरीरपर स्वत्व प्राप्त कर लेता था।

प्राय: सभी जंगली और बर्बर तथा अर्धसभ्य जातियोंमें स्त्रीका पद पुरुषसे बहुत छोटा था। उनकी गणना शाकभाजीमें ही होती परन्तु मनुष्यकी आकृति होनेसे और थोड़ी बहुत बुद्धि होने से उनका कुछ लिहाज़ करना ही पड़ता था। फिर भी उनको निरंतर अंकुशके नीचे रखना ही श्रेयस्कर प्रतीत होता था। कहीं कहीं तो यहांतक दस्तूर था कि अपने घर अतिथि आनेपर पत्नी उसको तृप्त्यर्थ अर्पित कर दी जाय। फ़िजियन लोगोंके पास जब रोम सरकारको कर देनेके लिए अन्य सामग्रीकी कमी पड़ती थी तो वह पत्नियों और बच्चोंको भेज देते थे।

प्राचीन कालसे ही चीनका स्थान सभ्य जगत्में बहुत ऊँचा रहा है। चीनियोंको अपनी संस्कृतिके विकासके लिए सहस्रों वर्षोंतक निर्वाध अवसर मिला। जब मंचुओंने उनको जीता तो उनकी संस्कृतिको ज्योंका त्यों अपना लिया। इस देशके इतिहासमें कई प्रभावशालिनी और आदरास्पद स्त्रियोंके नाम आते हैं परन्तु स्त्रियोंके प्रति लोगोंका जो दृष्टिकोण था उसकी व्यञ्जना प्रसिद्ध दार्शनिक कंफ्यूशियस इन शब्दोंमें करते है 'स्त्री सदैव परतंत्र रहती है और उसको चाहिए कि अपने पति और श्वसुरके प्रति समुचित रीतिसे विनीत रहे।' साधारण चीनी स्त्रीका मुख्य काम क्या समझता है इसकी झलक इस बातसे मिलती है कि पत्नीकी ओर बहुधा 'मेरे बच्चोंकी माता' कहकर संकेत किया जाता है। यह जान लेना चाहिए कि यह अनादरसूचक आख्या नहीं है। स्त्री सार्वजनिक क्षेत्रसे प्राय: अलग रहती थी परन्तु घरपर उसका स्थान बहुत ऊँचा था।

प्राचीन मिश्रमें स्त्रियोंका स्थान अन्य बहुतसे देशोंकी अपेक्षा ऊँचा था। वह पुरुषोंके बराबर मानी जाती थीं और न केवल राज्यमें बड़े पदोंपर नियुक्त होती थीं प्रत्युत धर्म्मगुरुओं और धर्माचार्योंकी श्रेणीमें भी आ सकती थीं। उनके बाहर निकलनेपर कोई रोक टोक न थी और विशेष अवसरोंपर पति पत्नी एक ही मंच पर, एक ही बड़ी कुर्सी पर, बैठा करते थे।

ईसाई धर्म्ममें ईसाकी माता मरियमका स्थान बहुत ऊँचा है। वह

पूज्य दृष्टिसे देखी जाती हैं। ऐसी अवस्थामें ईसाइयोंमें स्त्रीका बहुत आदर होना चाहिये था। परन्तु वस्तुतः ऐसा था नहीं। ईसाई होनेके बाद भी विभिन्न जातियोंके आचार विचार प्रायः पूर्ववत् रहे। बाइबिलमें ऐसा उल्लेख है कि आदिनारी ईवसे रुष्ट होकर ईश्वरने उससे कहा था 'मैं तेरे दुःखोंको बढ़ाऊंगा,' फिर यदि साधारण मनुष्य ईश्वरका अनुकरण करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? स्त्रियोंको सम्बोधित करके महात्मा टर्टचुलिआनने कहा है: 'तुम नरकका द्वार हो। नर ईश्वरकी प्रतिभा है, तुम उसको नष्ट कर देती हो।' विवाह पवित्र संस्कार है और पत्नीको भगवान्‌को साक्षी करके यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह पतिसे प्रेम करेगी, उसका आदर करेगी और उसकी वशवर्तिनी रहेगी। ईसाई धर्म बहुविवाहकी आज्ञा नहीं देता परन्तु फिर भी पुरुषको बहुत सी सुविधाएं हैं। जैसे आचरणसे स्त्री तत्काल ही पतित ठहरा दी जायगी वैसा यदि पुरुष करे तो उतनी कड़ाई नहीं बरती जाती। तिलाक़ भी उसे जल्दी मिलता है।

अरबोंमें भी कभी लड़कीका दर्जा बहुत छोटा माना जाता होगा और वह विवाह आदिके विषयमें पिताकी इच्छाके अधीन मानी जाती होगी। क़ुरान और हदीसमें इसकी ध्वनि मिलती है। आयशाके अनुसार जो स्त्री अपने पिताकी स्वीकृतिके बिना विवाह करती है, उसका विवाह प्रशंस्य नहीं है।

और अबू हरैरा लिखते है 'एक स्त्री दूसरी स्त्रीका दान विवाहमें नहीं कर सकती और न कोई स्त्री स्वतः अपनेको पतिको अर्पित कर सकती है क्योंकि जो स्त्री अपनेको पुरुषको सौंपती है वह व्यभिचारिणी होती है।' परन्तु इसके विरुद्ध इब्न अब्बास बताते हैं 'एक बार मुहम्मद साहबके पास एक महिलाने आकर कहा कि मेरे पिताने मेरा विवाह ऐसे पुरुषसे कर दिया है जिसको मैं पसन्द नहीं करती।' तब उन्होंने उसको अपनी इच्छा पर छोड़ दिया अर्थात् अपनी पसन्दके वरसे विवाह करनेकी स्वतंत्रता दे दी।

सैयद अमीरअलीका कहना ठीक ही प्रतीत होता है कि मुस्लिम विधानके अनुसार 'पिता लड़कीका अभिभावक या वलीमात्र है जो कन्याकी ओरसे क़ानूनी काम करता है, वह किसी भी दृष्टिसे उसका स्वामी नहीं है। पति भी स्वामी नहीं होता। ......बालिग़ होनेके बाद क़ानून उसको स्वतंत्र मनुष्यके सभी अधिकार प्रदान कर देता है।' यह दुःखका विषय है कि व्यवहारमें स्त्रीका स्थान उतना ऊँचा न रह सका। पर्देकी प्रथाने उसे और नीचे गिराया। यह तो सभी जानते हैं कि मुस्लिम विधानके अनुसार पिताकी सम्पत्तिमें लड़कीका भी हक़ होता है। यह भाग लड़केके भागसे भले ही कम हो पर इससे स्त्रियोंको कुछ न कुछ आर्थिक स्वतंत्रता मिल जाती है जिससे समाजमें उनको आदरका स्थान प्राप्त करनेमें सफलता मिलती है और मिली है।

[२] हिन्दू समाजके भीतर

वर्तमान हिन्दूसमाजकी उपमा गंगाकी धारासे दी जा सकती है। छोटी बड़ी अनेक नदियाँ चारों दिशाओंसे सैकड़ों कोसकी यात्रा करके इसमें मिली हैं परन्तु मिलनेपर सब एक हो गई हैं, उनका एक नाम हो गया है। नदीमें जलकी जो मात्रा है, उस जलमें जो वेग है, वह इन सब नदियोंकी सम्मिलित देन है। पर इन सब जलराशियोंके बीचमें वह मूल धारा है जिसमें आकर यह सब मिली है। यदि वह आदिस्रोत न होता तो यह मिलकर एक होनेका अवसर ही न पातीं। इन सबके बीचमें शरीरमें प्राणकी भांति वह धार है जो गंगोत्तरीयसे निकलकर गंगासागर तक चली गई है, जो अपने क्रोड़में सब नद नदियोंको स्थान देती गई है और सबको अपने पवित्र नाम और अलौकिक प्रभावका भागी बनाती गई है। अनेक जातियोंका समुच्चय आज हिन्दू समाज कहलाता है, अनेक संस्कृतियोंके योगफलका नाम हिन्दू संस्कृति है पर इन सबके मूलमें, इन सबका आश्रय स्थान और संबंधसूत्र, इन सबमें ओतप्रोत, वह संस्कृति है जिसको आर्य्य संस्कृति कहते

हैं, जिसका प्रथम परिचय हमको उन लोगोंमें मिलता है जो आजसे कई सहस्र वर्ष पहिले सप्तसिन्धवमें रहते थे और अपनेको आर्य्य कहा करते थे।

आर्य्यजीवनकी झलक हमको वेदों, मुख्यतः ऋग्वेद और अथर्ववेद, से मिलती है। उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाजमें स्त्रियोंका स्थान बहुत ऊँचा था। पीछेसे भले ही यह मान लिया गया हो कि स्त्रीको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं है परंतु वैदिक ऋषियोंमें, मनुष्योंमें वेदको लानेवालोंमें, कई स्त्रियां भी थीं। धर्म्म और अध्यात्मशास्त्रकी ऊँचीसे ऊँची भूमिकाओंमें स्त्रियोंकी गति थी। बृहदारण्यक उपनिषद्का सारभाग याज्ञवल्क्यकी पत्नी मैत्रेयीकी ब्रह्मजिज्ञासाके फलस्वरूप अवतरित हुआ है और विदेहकी सभामें याज्ञवल्क्यसे गार्गी नामकी विदुषी तपस्विनीने शास्त्रार्थ किया था। स्त्रियोंको सम्पत्ति रखनेका भी अधिकार रहा होगा क्योंकि याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति अपनी स्त्रियोंमें बांटकर संसारसे विमुख होनेका प्रस्ताव कर रहे थे। स्त्री पति या उसके संबन्धियोंकी दासी न होकर गृहस्वामिनी होती थी इसका प्रमाण वह मंत्र देता है जो पहिले पहिले सूर्य्याके विवाहमें पढ़ा गया और तबसे आजतक प्रत्येक शास्त्रसम्मत हिन्दू विवाहमें दुहराया जाता है:

सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्चांभव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ ऋक्—१०।८५।४६

सास, श्वसुर, ननद और देवरोंपर सम्राज्ञी हो—

यह आदर्श उन आदर्शोंसे कितना ऊँचा है जिनमें स्त्री सदा परतंत्र मानी जाती है और उसको यह आदेश दिया जाता है कि पतिके सम्बन्धियोंकी सेविका बनकर रहे। प्रेम और आदर करनेका कर्तव्य तो था परन्तु पतिपत्नी दोनोंके लिए। विवाहके समय दम्पती संकल्प करते हैं:

मम व्रते ते हृदयं दधामि, मम चित्तमनु चित्तं तेऽस्तु।
मम वाच मेकमना जुषस्व, प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्॥

अपने व्रतमें तुम्हारे हृदयको धारण करता हूँ। तुम्हारा चित्त मेरे चित्तके अनुकूल हो। एक मनसे मेरी बातका पालन करो, प्रजापति तुमको मेरे लिए नियुक्त करें—

पर इस अवस्थामें क्रमशः परिवर्तन हुआ। सप्तसिन्धवसे बाहर आर्य्योंका बहुतसी व्रात्य, बर्बर, असभ्य और अधिकतर अनार्य्य जातियोंसे सम्पर्क हुआ। उन लोगों पर तो आर्य्य संस्कृतिकी अमिट छाप पड़ी ही परन्तु आर्य्य भी अछूते न बच सके। अरब, पठान और मुग़ल आक्रमणोंने परिवर्तनकी गति और तीव्र कर दी। अन्य उलटफेरके साथ स्त्रियोंका स्तर नीचे गिरा। यह परिवर्तन अपनी छाया संस्कृत और प्राकृत तथा प्राकृतसे निकली पीछेकी भारतीय भाषाओंके वाङ्मय पर छोड़ गया है। पुराने मंत्र ज्यों-के-त्यों थे, पुराने संस्कारोंका परित्याग नहीं किया गया परन्तु उनका व्यवहार निर्जीव हो गया। मंत्रद्रष्ट्री स्त्रियोंकी वंशजाओंसे वेद पढ़नेका अधिकार छिन गया। कुछ स्मृतियोंमें, जो अन्तः साक्ष्यसे अरव-पठान आक्रमणके प्रारम्भिक कालकी बनी प्रतीत होती है, दूषित और बलात् धर्म्मान्तरमें प्रवेशित स्त्रियोंकी शुद्धिके लिए बहुत सरल व्यवस्था दी हुई है। बहुधा तो मासिकधर्म्मसे ही शुद्धि मान ली जाती थी। उन दिनों जो हिन्दू स्त्रियाँ विदेशियोंके हाथमें पड़ जाती थीं वह लौट आनेका पूरा यत्न करती थीं। इस प्रयासमें कइयोंने असाधारण शौर्य्य और दृढ़ताका परिचय दिया था। परन्तु पीछेसे यह मान लिया गया कि जो स्त्री एकबार पतित कर दी गई वह कभी शुद्ध नहीं हो सकती। इसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियोंको लौटनेका उत्साह जाता रहा और वह तथा उनकी सन्तति उस हिन्दू समाजकी कट्टर शत्रु बन गई जिसने उनका इस प्रकार निर्दय तिरस्कार किया था।

यों तो वेदोंमें भी पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंके छोटे होनेकी ओर कहीं कहीं संकेत मिलता है परन्तु इस प्रकारके स्पष्ट वचन पीछेके कालमें बहुतायतसे मिलते हैं। अपनी स्मृतिके पन्द्रहवें अध्यायमें वशिष्ट कहते हैं:

शोणितशुक्रसम्भवः पुरुषो मातापितृनिमित्तकः। तस्य प्रदानविक्रय-त्यागेषु मातापितरौ प्रभवतः।

पुरुष मातापिताके रजवीर्य्यसे उत्पन्न होता है, अतः मातापिताको उसको दान करने, बेचने और त्याग करनेका अधिकार है—यहां तो सन्तति-मात्रपर अधिकार माना गया है परन्तु पीछेसे यह अधिकार लड़कियोंतक ही सीमित रह गया। मनु कहते हैं :

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥ (९-३)

बचपनमें पिता और यौवनमें पति रक्षा करता है तथा बुढ़ापेमें पुत्र रक्षा करते हैं। स्त्री स्वतंत्र रहनेके योग्य नहीं है।

परन्तु घरमें स्त्रीका स्थान सदैव ऊँचा रहा। प्राचीन आर्य्य परम्पराका लोप नहीं हुआ। ममुने लिखा है :

एतावानेव पुरुषः, यज्जायाऽऽत्मा प्रजेति ह,
विप्रा प्राहुस्तथा चैतद्, यो भर्ता साऽङ्गना स्मृता॥(९।४२)

स्वयं, अपनी स्त्री, और सन्तानको मिलाकर पुरुष होता है। विद्वानोंका कहना है कि जो पति है, वही स्त्री है (अर्थात् दोनों पूर्णतया मिले हुए है)।

इसका भाष्य करते हुए कुल्लूकभट्टने वाजसनेय ब्राह्मणसे यह वाक्य उद्धृत किये हैं :

अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद् यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद्भवति। अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति, तथा चैतद्वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्य्या स्मृता।

इसलिए वह अपने आत्माका आधा ही रहता है जबतक विवाह नहीं करता। जबतक सन्तान नहीं होती तब तक असर्व रहता है। जब विवाह कर लेता है और सन्तान उत्पन्न कर लेता है तब वह सर्व होता है। वेदके जाननेवाले विद्वान् ऐसा कहते हैं कि जो भर्ता है वही भार्य्या है—

यह तो बड़ा ऊँचा विचार है परन्तु वह दूसरा विचार भी, कि स्त्री स्वतंत्र छोड़नेके योग्य नहीं है फैलता गया। स्त्रीको परतंत्र रखनेका कारण यह नहीं है कि वह कोमल मृणालतन्तुके समान रक्षाके योग्य है परन्तु यह कि वह पुरुषकी अपेक्षा हीन प्राणी है और लोक-परलोकमें पुरुषकी उन्नतिमें बाधा डालती है। भर्तृहरि कहते हैं:—

संसार तव निस्तारपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्यु, र्यदि रे मदिरेक्षणाः॥

संसारसे छुटकारा पाना कठिन न होता यदि मदिरासमान नेत्रवाली स्त्रियां बीचमें बाधा न डालतीं—

यह कोई नहीं पूछता कि स्त्रियोंके मार्गमें कौन बाधा डालता है। साधारण मनुष्योंकी तो बात क्या की जाय जब मर्य्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्र भी प्रेम और तपकी मूर्ति सीताके प्रति निरादरसूचक शब्दोंके प्रयोग करनेका साहस कर जाते हैं।

विदितश्चास्तु ते भद्रे, योऽयं रणपरिश्रमः।
स तीर्णः सुहृदां वीर्य्यान्न त्वदर्थं मया कृतः॥

(वाल्मीकि–६, ११८,१५)

हे भद्रे, तुम यह समझ लो कि यह जो महायुद्ध मैंने किया है वह तुम्हारे लिए नहीं किया गया।—

रघुवंशमें कालिदास भी यही बात कहते हैं। सीताको यह बात समझा दी गई है कि रावणसे उनके लिए युद्ध नहीं किया गया वरन् इसलिए कि रावणने रामचन्द्रजीको छेड़ा था। **'पदास्पृशन्तं दशति द्विजिह्वः'**—यदि

कोई सांपको ठोकर लगायेगा तो वह उसको डसेगा ही। लंकाकी लड़ाईका कारण सीताके प्रति प्रेम नहीं प्रत्युत रावणके प्रति अमर्ष था !

यह बात भी मान ली गई कि पति स्त्रीके शरीरका स्वामी है और उसको दूसरेके हाथमें दे सकता है। ऐसा होता बहुत कम होगा परन्तु धारणा रूपसे यह बात सबके मनमें बैठ गई थी। जब युधिष्ठिरने द्रौपदीको दावंपर लगाया तो यह आपत्ति किसीने नहीं की कि ऐसा करना अवैध होगा। स्वयं द्रौपदीको भी शंका नहीं हुई। उन्होंने केवल यह प्रश्न पूछाः—

किन्तु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम्।

किन्तु तुम पहले अपनेको हारे या मुझको ?—इसका भाव स्पष्ट है। यदि राजा पहिले अपनेको हार चुके होते तो वह परतंत्र हो जाते और उनको सजीव अजीव किसी सम्पत्तिपर कोई अधिकार न रह जाता और वह द्रौपदीकी बाज़ी लगा ही न सकते।

स्त्रियोंको दानमें दे देने या अन्य प्रकारसे हस्तान्तरित करनेकी कहानियां मिलती हैं और श्रद्धालुओंको उनमें वर्बरताकी दुर्गन्ध नहीं आती। कबीरके जीवनकी एक कथा प्रसिद्ध है। एक दिन सायंकाल उनके यहां यकायक बहुतसे साधु आ गये। घरमें अन्न न था। कबीर अपनी पत्नीको एक सेठके घर गिरवी रख आये। वह जानते थे कि यह दुराचारी है और मेरी पत्नीको कुदृष्टिसे देखता है पर उसीसे उस समय पर्याप्त पैसा मिल सकता था। यह दूसरी बात है कि भगवान्ने उस सतीके धर्म्मकी रक्षा की, परन्तु यदि कथा सच हो तो कबीरने अपनी ओरसे तो अपनी पत्नीके साथ घोर अनार्य्य और अमानव बर्ताव किया। कथा सच हो या झूठ परन्तु जो लोग उसको श्रद्धाके साथ सुनते हैं वह अपनेको उस पापका भागी बनाते हैं। यदि कहानी ग़लत है तो जिसने इसे गढ़ा उसने ऐसी बात कही जिसको तत्कालीन लोकमत बुरा नहीं समझता था।

ईसाई प्रचारकोंने भारतीय समाजके काले चित्र खींचनेमें कोई कसर नहीं उठा रक्खी। ऐसी करुणोत्पादक बातें सुनाकर ही वह अपने देशोंके

उदार व्यक्तियोंसे चन्दा जमा कर सकते थे। पश्चिमकी सभ्यताकी चकाचौंधमें अपनी बुद्धिकी स्थिरता खोकर कुछ भारतीय समाज सुधारकोंने भी अपनी परम्पराओंकी निन्दाके पुल बाँध दिये। इन बातोंमें बहुत अतिरंजन था। सार्वजनिक रूपसे स्त्रियोंके व्यक्तित्वको विकसित होनेके अवसर कम हो गये हों और समाजमें उनका पद पुरुषोंने नीचा भले ही माना हो परन्तु ऐसी कोई बात नहीं थी जिससे हिन्दूको दूसरोंके सामने लज्जित होना पड़े। लक्ष्मी, सरस्वती और दुर्गाकी उपासना करनेवाला, पार्वती, सीता और सावित्रीका यशोगान करनेवाला, सप्तशतीके इस वाक्यको बराबर सुननेवाला, **'स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु, तव देवि भेदाः'** हे देवि, जगत्की सब स्त्रियां आपकी ही भेद हैं—स्त्रियोंको कहाँ तक नीचे गिराता। मनुके इस उपदेशका कि 'पितुः शतगुणा माता—पितासे माताका पद सौगुना है'—श्रद्धाके साथ पालन होता था।

यह सच है कि किसी किसी स्मृतिकारने स्त्रियोंका पद बहुत नीचे गिरा दिया है। बृहस्पति स्मृति कहती है:—

सहस्रमेव धेनूनां, शतं चानडुहां समम्।
शतानडुत्समंयानं, दशयानसमं हयः
दशवाजिसमा कन्या।

यह श्लोक दान प्रकरणमें आया है। इसका तात्पर्य यह है कि [एक सहस्र गौवोंके बराबर एक सौ बैल होते हैं, सौ बैलोंके बराबर एक यान (रथ) होता है और दस रथोंके बराबर एक घोड़ा होता है। दस घोड़ोंके बराबर एक कन्या होती है।] इसका तात्पर्य यह हुआ कि कन्याका बाज़ार भाव घोड़े बैलोंके साथ सुगमतासे स्थिर किया जा सकता है। परन्तु ऐसी मूर्खतापूर्ण बातोंके साथ साथ प्रचुर मात्रामें ऐसे वाक्य मिलते हैं जो स्त्रियोंके प्रति सम्मानके द्योतक हैं। मनु स्पष्ट कहते हैं:—

न निष्क्रयनिसर्गाभ्याम्, भर्तुर्भार्य्या विमुच्यते (९।४६)

स्त्रीका पतिसे विक्रय या दानके द्वारा विच्छेद नहीं हो सकता। महाभारतका कहना है:—

यथैवात्मा तथा पुत्रः, पुत्रेण दुहिता समा।

जैसे आत्मा वैसे ही पुत्र होता है और लड़की पुत्रके बराबर होती है—

संन्यासी संस्कारके सभी बंधन तोड़ देता है। यदि उसका पिता भी मिल जाय तो सन्यासी उसे प्रणाम नहीं करेगा। परन्तु माताके लिए अपवाद है। माताके चरण संन्यासीको छूने ही होंगे।

पति या पुत्रके न होने पर स्त्रियां बराबर राज्याधिकारिणी होती आई हैं। इस सम्बन्धमें कभी कोई वैधानिक अड़चन नहीं पड़ी। वीर नारियोंके नामसे भारतीय इतिहासके पन्ने भरे पड़े हैं। इस परम्पराका एक परिणाम तो प्रत्यक्ष हुआ। अन्य देशोंकी भांति भारतीय स्त्रियोंको मताधिकारके लिए लड़ना नहीं पड़ा। जब उनको वोट देनेका, और चुने जानेका, अधिकार मिला तो किसी ओरसे भी विरोध नहीं हुआ। आज स्त्रियां बड़े-बड़े पदोंपर नियुक्त होती हैं, इसकी भी कोई प्रतिक्रिया नहीं देख पड़ती।

सम्पत्तिके सम्बन्धमें स्त्रियों और पुरुषोंमें वैषम्य है। कुछ शास्त्रकारोंका तो यह मत है कि स्त्रियोंको पैतृक सम्पत्तिमें कोई भाग न मिलना चाहिए। तैत्तिरीय संहितामें उनको अदायादी—दायमें भाग न पानेवाली—कहा है। वैदिक कालमें भी सिद्धांत और व्यवहारमें कुछ अन्तर रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। शतपथब्राह्मणमें याज्ञवल्क्य एक ओर तो कहते हैं न ताः दायस्य चैशत—वह (स्त्रियां) दाय भोगनेके योग्य नहीं है—और दूसरी ओर स्वयं अपनी सम्पत्ति अपनी स्त्रियोंमें बाँटते हैं। क्रमशः यह बात स्वीकार कर ली गई कि विशेष परिस्थितियोंमें स्त्रियोंतक दाय उतर सकता है।

प्राचीन कालसे ही स्त्रियोंको यहां एक बहुत बड़ा अधिकार मिला हुआ है। स्त्री अपने पिता-मातासे या पतिसे जो कुछ चलाचल सम्पत्ति

पाती है उसे स्त्रीधन कहते हैं। उसपर उसका एकमात्र अधिकार होता है। पति पर चाहे जितना ऋण हो जाय परन्तु महाजन उस पर हाथ नहीं डाल सकता। मृत्युके बाद यह सम्पत्ति दिवंगता स्त्रीकी लड़कियोंको मिलती है। इस व्यवस्थाने हिन्दू स्त्रियोंको ऐसी आर्थिक स्वाधीनता दे दी है जिसके लिए पाश्चात्य नारी भी तरसती है।

हिन्दू समाजमें अबतक विवाहविच्छेद (तलाक़) की प्रथा नहीं है। इसपर समाजसुधारकोंको बड़ी आपत्ति है। हो सकता है कि तलाक़ किन्हीं दृष्टियोंसे अच्छी चीज़ हो परन्तु अबतक तो इस प्रथाके अभावने हिन्दू स्त्रीकी बहुत रक्षा की है। पति पत्नीमें चाहे प्रेम न हो परन्तु स्त्री पतिकुलके लिए पोष्या रही है। विधवा होनेपर भी उसका यह अधिकार अक्षुण्ण रहता था। इसलिए एक ओर तो वह रोटियोंके लिए भिखारिन बननेसे बच जाती थी, दूसरी ओर पेटके लिए धर्म्म बेचनेकी लालचसे भी दूर रहती थी। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि स्त्रियोंके साथ दुर्व्यवहार नहीं होता; तात्पर्य केवल इतना है कि उनकी रक्षा और ससम्मान जीवननिर्वाहके लिए भी पर्य्याप्त प्रबन्ध है।

सतीत्वको जो असाधारण महत्त्व दिया गया है इस पर कुछ लोगोंको आश्चर्य होता है, आजकल इस पर हँसने और इसे असामयिक माननेकी भी कुछ प्रवृत्ति है। यह भावना इस बातकी द्योतक मानी जाती है कि पुरुष स्त्रीको भुलावेमें डालकर अपने साथ बांध रखना चाहता है। सम्भव है यह सब बातें अंशतः सच हों, पुरुषकी सद्भावनाकी वकालत मैं भी नहीं करता परन्तु यह भी सच है कि हिन्दू समाजने सतियोंको जो ऊँचा स्थान दिया है, गौरी, सावित्री, लोपामुद्रा, अरुन्धती, सीताको जिस आदरकी दृष्टिसे देखता है, उसका प्रभाव स्त्रियोंके लिए बड़ा अच्छा हुआ है। स्त्रीकी सहज पवित्रताके सामने पुरुषको सिर झुकाना ही पड़ता है, स्त्रीको भी इन आदर्शोंको अपने सामने रखना ही पड़ता है।

वर्तमान कालके सम्बन्धमें कुछ कहना अनावश्यक है। वह तो हमारे

सामने है। स्त्रियोंकी सामाजिक और आर्थिक स्थितिमें भी परिवर्तन हो रहे हैं। यह कहना कठिन है कि यह परिवर्तन सबके सब कहां तक वाञ्छनीय हैं।

भारतमें और उसके अंगभूत हिन्दू समाजमें भी द्रुत गतिसे अवस्था बदल रही है। कुछ परिवर्तन तो स्वाभाविक और कालगतिके अनुरूप हैं और कुछ केवल पश्चिमकी नकल हैं। विवाह और दायभागके नियमोंपर आलोचकोंकी कड़ी दृष्टि है, पुराने विचार ढीले पड़ रहे हैं, पुराने विश्वासोंमें वह पहिलेकी शक्ति नहीं रही, पुराना आर्थिक ढांचा भी नहीं रहा। परिवर्तन होना ही चाहिए परन्तु गम्भीर विचारके बाद, ताकि उसके प्रवाहमें वह विचार और तन्मूलक प्रथाएं भी न बह जायं जो हमारी संस्कृतिकी प्राणस्वरूपा हैं।

दूसरा अध्याय

कन्यादान और हिन्दू विवाहमें उसका महत्त्व

दान शब्द दा धातुसे निकला है। उसका प्रयोग खैरात, भेंट, समर्पण के अर्थमें होता है। इन सब प्रकारोंसे वस्तुका हस्तान्तरण होता है और हस्तान्तरणके साथ साथ उसका स्वामी भी बदल जाता है। मुख्य प्रयोग तो यही है, यों व्यवहारमें ऐसे स्थलोंपर भी इस शब्द या इससे सम्बद्ध क्रियापदोंसे काम लेते हैं जहां हस्तान्तरण या स्वामिपरिवर्तनका भाव नहीं होता। उदाहरणके लिए, अतिथिको आसनदान किया जाता है अर्थात बैठनेकी जगह दी जाती है, दर्जीको कपड़े दिये जाते हैं, परीक्षा दी जाती है इत्यादि। 'कन्यादान' में दान शब्दका प्रयोग मुख्य अर्थमें ही हुआ है। कन्याका वरको सौंप दिया जाना कन्यादान है; उस प्रक्रियाको भी कन्यादान ही कहते हैं जिसके द्वारा यह दान सम्पन्न होता है। कन्याका पिता ही दाता होता है पर यदि पिता न हो तो याज्ञवल्क्यके अनुसार क्रमात् पितामह, बड़ा भाई और माता यह कृत्य कर सकते हैं। यदि इनमेंसे कोई भी न हो तो कोई भी बड़ा सम्बन्धी पिताकी जगह ले सकता है। वर ही आदाता होता है।

यों तो कन्याको वरको अर्पित करनेकी प्रथा अन्यत्र भी पाई जाती है परन्तु हिन्दू समाजमें इसको जिस धार्मिक दृष्टिसे देखा जाता है वह और कहीं नहीं है। दूसरी जगह वह केवल सामाजिक रवाज है जिसको छोड़ देनेसे विवाहकी पद्धतिमें कोई कमी नहीं आती। हिन्दुओंमें कन्यादान विवाह पद्धतिका अनिवार्य्य अंग है। आर्य्यसमाजने भी इसे रक्खा है। अब तो इसकी अनिवार्यताका केवल एक अपवाद रह गया है। 'अब'

कहनेका विशेष कारण है। हमारी सभी स्मृतियोंने ऐसा कहा है कि विवाहके आठ प्रकार होते हैं: ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इनमेंसे कुछको तो विवाह कहना भाषाके साथ अन्याय करना-सा प्रतीत होता है। उदाहरणके लिए, पैशाचको बलात्कारसे भिन्न मानना कठिन प्रतीत होता है। स्मृतिकारोंने इनको इसीलिए विवाहकी पदवी दी है कि इनसे जो सन्तान उत्पन्न हो वह वैध मान ली जाय और निराश्रय न रहे। आजकल ब्राह्म ही वास्तविक विवाह माना जाता है। हिन्दूमात्रमें, कमसे कम उन लोगोंमें जो न्यूनाधिक रूपसे शास्त्रोंका पालन करते हैं, यही प्रचलित है। स्मृतियोंने भी इसको ही सबसे श्रेष्ठ और पवित्र बतलाया है। परन्तु इसके साथ साथ गान्धर्वको भी मान्यता प्राप्त है। यदि कोई स्त्री और पुरुष साथ रहते हों और दम्पती जैसा व्यवहार करते हों और यदि उनका विवाह अन्य किसी कारणसे अवैध न होता हो तो उनके इस सम्बन्धको विवाह जैसा मान लिया जाता है। गान्धर्व विवाहमें कन्यादानके लिए कोई स्थान नहीं है।

यहाँ हमको ब्राह्मविवाह पर ही विचार करना है। इसमें ही वस्तुतः कन्यादान होता है। विवाहकी यह पद्धति बहुत लंबी है। इसकी अन्तिम कड़ी सप्तपदी है।

कन्यादानसे जो पुण्य होता है वह अक्षय्य और अपरिमेय है। लिंगपुराणके शब्दोंमें:

यावन्ति सन्ति रोमाणि, कन्यायाश्च तनौ पुनः।
तावद्वर्षसहस्राणि, रुद्रलोके महीयते॥

कन्याके शरीरमें जितने रोम हैं उतने सहस्रवर्ष कन्याका दाता रुद्रलोकमें निवास करता है—

मनु कहते हैं:

दश पूर्वान् परान् वंश्यान्, आत्मानं चैकविंशकम् ।
ब्राह्मीपुत्रः सुकृतकृन्, मोचयेदेनसः पितॄन् ॥ (३।३७)

ब्राह्मविवाहसे उत्पन्न लड़का अपने कुलके इक्कीस व्यक्तियोंको पापसे (नरकसे) मुक्त करता है—अपने पहिलेके दस, पीछेके दस और एक स्वयं—

भविष्यपुराणकी घोषणा है:

ब्रह्मदेयान्तु यः कन्याम्, अलंकृत्य प्रयच्छति ।
सप्त भूतान्भविष्यांश्च, स्वकुले सप्त मानवान् ॥
तेन कन्याप्रदानेन, तारयिष्यत्यसंशयम् ।

जो कन्याको अलंकृत करके ब्राह्मविधिसे देता है वह निश्चय ही अपने सात पूर्वजों और सात वंशजोंको नरकसे बचा लेता है—

आश्वलायन इससे भी आगे जाते हैं:

तस्यां जातो द्वादशावरान् द्वादशपूर्वान् पुनाति

उसमें उत्पन्न हुआ लड़का बारह पूर्वजों और बारह अवरजोंको पवित्र करता है—

इन वाक्योंकी लाक्षणिक मीमांसा ही करनी चाहिए। शब्दशः अर्थ लगाना तो अन्याय होगा। यदि यों ही पूर्वज और अवरज पवित्र हुआ करें तो फिर कोई हिन्दू तो कभी नरक जायगा ही नहीं क्योंकि वह किसी न किसी कन्यादान करनेवालेका पूर्वज या अवरज तो होगा ही। इस प्रकारके वाक्योंको अर्थवादकी दृष्टिसे देखना चाहिए जिनमें अतिशयोक्तिमय प्रशंसाके द्वारा किसी कर्तव्यकी ओर प्रेरित किया जाता है। तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि कोई लड़की बेव्याही न रह जाय। पिता न हो तो कोई और सम्बन्धी इसका दायित्व अपने ऊपर ले ले। यदि दुर्भाग्यसे कोई भी सम्बन्धी न हो तो नारद कहते हैं:

यदा तु नैव कश्चित् स्यात्, कन्या राजानमाव्रजेत्

यदि कोई न हो तो कन्या राजाके पास जाय—

इसका तात्पर्य यह है कि राज्यका यह कर्तव्य था कि इस बातका प्रबन्ध करे कि विवाहयोग्य लड़कियोंका विवाह हो जाय। वर्तमानकालमें राज्यके अधिकारों और कर्तव्योंके क्षेत्रका बहुत विस्तार हुआ है परन्तु इस कर्तव्यको किसीने नहीं अपनाया है। प्राचीन हिन्दू राज्य इस विषयमें बहुत आगे था।

कन्यादानसे पुण्यसंचय होनेका विश्वास इतना दृढ़ है कि पिताके दान कर लेनेपर बहुतसे सम्बन्धी और ऐसे लोग भी जो दूसरे वर्ण और कुलके होते है उसको दान देते हैं। कमसे कम उत्तर भारतमें तो ऐसा कई जगह देखा जाता है। यह शंका नहीं उठती कि एक बार दान की हुई वस्तुका फिर कैसे दान होगा।

दान करनेके पुण्यके साथ साथ दान न करनेके दण्डका भी वर्णन है। इससे निष्ठा और दृढ़ होती है। याज्ञवल्क्य कहते है:

अप्रयच्छन् समाप्नोति, भ्रूणहत्यामृतावृतौ

कन्याका दान न करने से, उसके प्रत्येक ऋतुकाल पर (पिताको) भ्रूणहत्याका पाप लगता है।

कन्यादानका जहां जहां विधान है वहां यह भी लिखा गया है कि कन्याको अपने वित्तके अनुसार सोना, चाँदी और अन्य बहुमूल्य द्रव्य देना चाहिए। दानके लिए जो संकल्प पढ़ा जाता है वह इस प्रकार है। (यह संकल्प आनन्दाश्रम, पूनाकी छपी संस्कार पद्धतिसे लिया गया है)

अमुकप्रवरान्वितामुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकशर्माऽहं मम समस्तपितृणां निरतिशयसानन्दब्रह्मलोकावाप्त्यादिकन्याप्रतिपादनकल्पोक्त फलावाप्तयेऽनेन वरेणास्यां कन्यायामुत्पादयिष्यमाणसंतत्या द्वादशावरान् द्वादश परान् पुरुषान्

पवित्रीकर्तुमात्मनश्च लक्ष्मीनारायणप्रीतये ब्राह्मविवाहविधिना कन्याप्रतिपादनं करिष्ये ।

अमुक प्रवरन्वित अमुकगोत्रोत्पन्न अमुक (शर्मा वर्मा आदि वर्णानुसार) मैं कन्यादान कल्पमें बतलाये गये निरतिशय सानन्द ब्रह्मलोकप्राप्ति आदि फलोंको अपने सब पितरोंको प्राप्त करानेके लिए इस वरसे इस कन्यामें उत्पन्न होनेवाली संततिके द्वारा बारह पर बारह अवर पुरुषोंको तथा अपनेको पवित्र करनेके लिए लक्ष्मीनारायणकी प्रीतिके लिए ब्राह्मविवाह विधिसे इस कन्याका दान करता हूँ—

जब 'प्रतिगृह्णामि' कहकर वर अपनी स्वीकृति दे देता है तब दानके अनुरूप दक्षिणा दी जाती है, क्योंकि दक्षिणा विना कोई शास्त्रसम्मत दान सम्पूर्ण नहीं होता ।

विवाहके प्रसंगमें शास्त्रोंमें प्राय: सर्वत्र कन्या शब्दका प्रयोग हुआ है । यह एक प्रकारका पारिभाषिक शब्द माना जाता है और दस वर्षकी अविवाहिता लड़कीके लिए आता है । स्मृतियोंमें कई जगह ऐसा स्पष्ट आदेश है कि इस वयसे आगे लड़कीका विवाह नहीं टलना चाहिए । इसके पहिले विवाह हो जाना तो बहुत ही श्रेयस्कर है । लड़की यदि विवाहके पहले रजस्वला हो गई तो घरवालोंको महान् पातक लगता है । इसलिए कुछ विद्वानोंका मत है कि विवाहके सम्बन्धमें सर्वत्र कन्या शब्द दस वर्षकी लड़कीके लिए ही आया है । ऐसा मानना समीचीन नहीं प्रतीत होता । कुछ स्मृतिकारोंने निश्चय ही यह अर्थ लिया है परन्तु यह व्याख्या सर्वसम्मत नहीं है । बहुत छोटे वयमें विवाह कर देनेकी प्रथा अर्वाचीन प्रतीत होती है । मनुका परामर्श है कि:

त्रिंशद्वर्षो वहेत्कन्यां, हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् (मनु० ९–९४)

तीस वर्षका वर बारहवर्षकी मनोहारिणी कन्यासे विवाह करे—

और वह यह भी आदेश देते हैं:

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत, कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम् ।। (९।९०)

ऋतुमती होनेके पश्चात् कुमारी तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करे, यदि घरवाले तब भी उसका विवाह न करें तो योग्य पतिसे स्वयं विवाह कर ले—

इसका अर्थ तो यह हुआ कि सत्रह, अठारह वर्षके वय तकका विवाह तो मनुको भी सम्मत है। फिर नारदने जो यह आदेश किया है कि यदि घरवाले विवाह न करें तो कन्या राजाके पास जाय, यह आदेश भी दस वर्षकी लड़कीके लिए नहीं हो सकता। इन बातोंसे यह प्रतीत होता है कि साधारणतः कोई भी अविवाहिता स्त्री कन्या कहलाती थी। इसका अपवाद वही स्त्रियाँ हो सकती थीं जिन्होंने किसी कारणसे तपश्चर्य्या और योगाभ्यासमें जीवन बितानेका संकल्प कर लिया हो। इसके कई उदाहरण है। महाभारतमें सुलभाका आख्यान है। उनकी तपोनिष्ठाका विलक्षण कारण है :

साऽहं तस्मिन् कुले जाता, भर्तर्यसति मद्विध ।
विनीता मोक्षधर्म्मेषु, चराम्म्येका मुनिव्रतम् ।।

उस कुलमें उत्पन्न हुई मै अपने योग्य वरके न होनेसे मोक्षधर्म्ममें विनीत होकर अकेली मुनिव्रतका पालन करती हूं—

ऐसी देवियोंको जिनका विवाह होना ही नहीं है कन्या कहना निरर्थक है।

कन्याके बराबरका ही वर शब्द है। वर वह पुरुष हुआ जो वरण करना है या जिसका वरण किया जाता है। साधारण बोलचालमें दूल्हेको, उस पुरुषको जिसका विवाह होनेवाला है, वर कहते हैं।

यदि कन्या देय वस्तु है, यदि उसका दान करनेसे दाता और उसके कुलमें उत्पन्न और उत्पन्न होनेवाली पीढ़ियोंको पुण्यसंचय होता है, तो फिर इस दानसे अन्य दानकी भांति कुछ और भी फल घटित होते होंगे। दान की हुई वस्तुका उपभोग नहीं हो सकता। दान की हुई गऊका दूध

ग्रहण करना पाप होगा। हां, यदि कोई बहुत बड़ी आवश्यकता पड़ जाय और गत्यन्तर न हो तो मूल्य देकर दूध काममें लाया जा सकता है। हिन्दू कन्याके प्रति ऐसा ही व्यवहार करता है। लड़कीके घरका अन्न-जल ग्रहण नहीं किया जाता, उसके घरकी कोई और वस्तु भी व्यवहारमें नहीं लायी जाती। यदि कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि कहीं औरसे कामकी वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती तो मूल्य देकर कन्याकी सम्पत्तिका उपयोग कर लेते हैं परन्तु मूल्य बाज़ारभावसे कहीं अधिक दिया जाता है। आदित्यपुराणमें आदेश है :

अप्रजायां तु कन्यायां, नाश्नीयात्तस्य वै गृहे।
ब्रह्मदेया विशेषेण, नैव भोज्यं सदैव तु॥

जब तक कन्याको सन्तान न हो जाय, तब तक उसके (जामाताके) घर नहीं खाना चाहिए। विशेषकर ब्राह्मविवाहमें दी गई लड़कीके घर कभी नहीं खाना चाहिये।

सन्तान हो जानेके उपरान्त लड़कीके घर खाना या उसकी अन्य वस्तुका उपयोग करना उतना बुरा नहीं माना जाता। यह भी समझ लेना चाहिये कि सन्तानसे तात्पर्य यहाँ पुत्रसे है। हिन्दू दायविभागके अनुसार गर्भमें आनेके साथ ही लड़का पैतृक सम्पत्तिका भागी हो जाता है अतः पुत्रके जन्म होनेसे अब सम्पत्ति केवल लड़की जामाताकी नहीं रही, वरन् नाती भी अंशतः उसका स्वामी हो गया।

नाती, लड़कीके लड़के—का पद बड़ा ऊंचा माना जाता है। वह पुत्रके समान ही नरकसे उद्धार करनेमें समर्थ होता है। पुत्रका तो नाम इसीलिए पड़ा है कि वह पुत् (अर्थात् नरक)से त्राण करता है। यों तो मनुष्य अपने कर्म्मोंके बलसे ही पुण्यपापका भागी होता है, पुत्र किसीकी क्या सहायता करेगा। और फिर सब पुत्र तो इस योग्य भी नहीं होते कि अपनेको सँभाल सकें। जैसा कि बोधायनीय गृह्य परिभाषामें लिखा है:

न मांसपेशलः पुत्रो, नाऽविद्वान्नाप्यकर्म्मकृत् ।
स्वयं न याति यः स्वर्गं, पितरं तारयेत्स किम् ।।

मांसपिंड पुत्र नहीं होता, न जो अविद्वान् और अधर्म्मचारी है वह पुत्र होता है । जो स्वयं स्वर्ग नहीं जायगा, वह पिताको क्या तारेगा——

फिर भी पुत्रोत्पत्तिके लिए लोग बड़े बड़े यत्न करते हैं, न जाने कितने जपतप करते कराते हैं । कुछ नहीं होता तो दत्तक लेकर सन्तोष करते हैं ।

जिनको पुत्र नहीं होता वह नातीसे भी वैसी ही आशा रखते हैं, पुत्रके अभावमें नाती अपने नानाकी सम्पत्तिका स्वामी भी होता है । यदि अतिशयोक्ति न मानी जाय तो नातीका पद पुत्रसे भी बड़ा है——पुत्र तो पिताको ही संभालता है परन्तु नाती पचीस पीढ़ियोंतकका त्राण करता है ।

विवाहके प्रसंगमें एक और स्थलपर देनेकी बात आती है । उसका कन्यादानसे कोई सम्बन्ध नहीं है परन्तु प्रसंगतः उसका भी उल्लेख कर देता हूं । ऋग्वेद (१०–८५–४१)में सूर्याके विवाहके प्रसंगमें वर कहता है :

सोमो ददद् गन्धर्वाय, गन्धर्वो दद्दग्नये ।
रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यमथा [illegible] ।।

इससे पहले वाला मंत्र कहता है:

सोमः प्रथमो विविदे, गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ।।

इसका तात्पर्य यह है कि हे कन्या पहिले सोमने तुझे पाया, फिर गन्धर्वने । तेरा तीसरा पति अग्नि हुआ और चौथा पति मनुष्यकी सन्तान अर्थात् मनुष्य है ।

इसका यह अर्थ नहीं हो सकता कि एक स्त्रीके कई पति होते हैं या विवाहके पहिले देवगण कन्याका भोग करते है । यह तो घोर पापकी बात

होगी। यहां पतिका अर्थ पाता—रक्षक—ही हो सकता है। इस बातकी पुष्टि बादवाला मंत्र करता है। उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि कन्याके शैशव-कालमें सोम उसके रक्षक होते हैं, फिर वय बढ़नेपर वह इस भारको गन्धर्वको सौंपते हैं। इसी प्रकार और बड़ी होनेपर गन्धर्व अग्निको यह काम सुपुर्द करते हैं। जब कन्या वयस्का होती है तो अग्नि वरको कन्या और कन्याके साथ पुत्र और धनसम्पत्ति देकर भारमुक्त होते हैं। यह मंत्र अब भी विवाह प्रकरणमें पढ़े जाते हैं।

तीसरा अध्याय

कन्यादानकी वैधता

संस्कारगणपतिके अनुसार ब्राह्मविवाह पञ्चाङ्ग होता है। पाँचों अंगोंके नाम वाग्दान, प्रदान अर्थात् कन्यादान, वरण, पाणिग्रहण और सप्तपदी हैं। वाग्दानका अर्थ यह है कि कन्याका पिता यह वचन देता है कि दैवज्ञोंके बतलाये शुभ दिनमें वह अपनी कन्याका अमुक वरसे विवाह कर देगा, वरका पिता भी इसी प्रकारका वचन देता है। विवाहके लिए जो दिन निश्चित हो चुका होता है उसके दो चार दिन पहिले वरके सम्बन्धी और मित्र कन्याके घर जाते हैं और कन्याके पितासे प्रार्थना करते हैं कि कन्याको अमुक वरको प्रदान कीजिये। इसका नाम वरण है। सब बात तो पहिलेसे निश्चित रहती है, प्रार्थना स्वीकार कर ही ली जाती है। पाणिग्रहण, कन्यादान और सप्तपदीसे सभी लोग परिचित हैं। पिछले अध्यायमें कन्यादानका आवश्यक वर्णन कर भी दिया गया है।

कन्यादान, पाणिग्रहण और सप्तपदीका तो आज भी चलन है परन्तु वाग्दान और वरणका वह रूप अब नहीं रहा। कमसे कम उत्तर भारतमें तो वरणका लोप सा हो गया है। वाग्दान है पर वह फलदान और तिलकमें अन्तर्भूत हो गया है; इनमें रुपयोंकी लेन देनका महत्त्व अधिक है अन्य बातोंका कम। कन्याका पिता तो कुछ वचन देता भी हो परन्तु यदि वरका पिता कोई प्रतिज्ञा करता है तो वह पुरोहितोंके मुंहसे निकले श्लोकोंमें ही रह जाती है। प्रसंगागत वैदिक मंत्र यदि पढे भी जाते हैं तो उनकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। फिर भी इन दोनों कृत्योंका महत्त्व है। यह प्राचीन परम्परा और विचारों पर प्रकाश डालते हैं और इनसे शेष तीनों कृत्योंको समझने और

उनकी मीमांसा करनेमें सहायता मिलती है। विवाहको पञ्चाङ्ग कहनेसे यह बात निकलती है कि पाँचों अंग सम्बद्ध हैं और एक दूसरेकी अपेक्षा करते हैं। पीछेका कोई भी अंग हो, वह पूर्ववर्ती अंगोंकी आधारशिला पर ही स्थित रह सकता है।

कन्याका वरको दिया जाना कन्यादान है, यह तो हम देख चुके हैं। कभी कभी एक मित्र दूसरेको कोई वस्तु भेंट कर देता है परन्तु ऐसी भेंटका कोई धार्म्मिक महत्त्व नहीं होता। कन्यादानका धार्म्मिक महत्त्व है। मित्र भेंट की हुई वस्तुको लौटा सकता है परन्तु दी हुई कन्या लौटाई नहीं जाती। परन्तु प्रश्न यह है कि क्या सचमुच कन्याका दान हो भी सकता है, क्या कन्यादान वैध दान है? हम इस प्रश्नपर कई दृष्टियोंसे विचार करेंगे।

यह तो मानी बात है कि उसी वस्तुका दान हो सकता है जो अपनी सम्पत्ति हो। सम्पत्ति हस्तान्तरण विधान (ट्रांसफ़र आव प्रापर्टी ऐक्ट) कहता है कि 'यदि एक व्यक्तिके द्वारा जिसे दाता कहते हैं दूसरे व्यक्तिको जिसे आदाता कहते हैं कोई चल या अचल सम्पत्ति, इच्छापूर्वक और बिना किसी प्रत्युपकारकी आशाके, हस्तान्तरित की जाय तो इस हस्तान्तरणको दान कहते हैं।' अपनी टीकामें डी० एफ़ मुल्ला कहते हैं कि आध्यात्मिक या नैतिक लाभकी आशासे किया गया हस्तान्तरण दान हो सकता है। इस विधानके अनुसार यदि अपना कोई ऐसा स्वत्व हो जो न्यायालयके सामने लाया जा सकता हो तो उसका भी दान हो सकता है। जैसे यदि किसी महाजनका किसी व्यक्ति पर रुपया बाकी हो तो वह इस ऋणका दान कर सकता है। इस विधानके अनुसार कन्याका दान तभी वैध हो सकता है जब वह या तो चल या अचल सम्पत्ति हो या न्यायालयके सामने लाने योग्य स्वत्व हो। यह स्पष्ट है कि कन्या इन दो मेंसे एक भी नहीं है। आजकलका विधान यह नहीं मानता कि कन्या पिताकी सम्पत्ति है, अतः कन्यादान अवैध है। परन्तु किसी प्राचीन प्रथाको आजकलके विचारोंकी

कसौटी पर कसना स्यात् न्याय्य न हो। इसलिए हमको यह देखना है कि हमारे प्राचीन शास्त्र इस विषयमें क्या कहते हैं।

हेमाद्रि दानखण्डने देवलके इस वाक्यको उद्धृत करके दानके सच्चे स्वरूपको बतलाया है:

पात्रेभ्यो दीयते नित्यमनपेक्ष्य प्रयोजनम्।
केवलं त्यागबुद्ध्या यत्, धर्म्मदानं तदुच्यते॥

धर्म्मदान वह है जो केवल त्याग बुद्धिसे प्रयोजनकी अपेक्षा न करके सत्पात्रोंको दिया जाता है—

प्रयोजनकी व्याख्या है: दृष्टफलानुसन्धान। अदृष्ट फलकी आकांक्षा दानको दूषित नहीं करती। श्रीकृष्णने गीतामें कहा है:

दातव्यमिति यद्दानं, दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥ (१७।२०)

उपयुक्त देश और कालमें, अनुपकारी (अर्थात् जिससे प्रत्युपकारकी आशा नहीं है) पात्रको 'देना कर्तव्य है' इस बुद्धिसे जो दिया जाता है वह सात्विक दान है—

इन अवतरणोंसे शुद्ध दानके स्वरूपका, उसके अनुषंगियोंका, बोध तो होता है पर यह वैधानिक परिभाषाएं नहीं हैं। गोविन्दानन्दने दानक्रिया-कौमुदीमें यह परिभाषा की है:

उद्देश्यगतस्वामित्वजनकत्यागो दानम्।

दान वह त्याग है जो युगपत् उद्दिष्ट (नामाङ्कित) व्यक्तिमें स्वामित्व उत्पन्न करता है—

इसका तात्पर्य यह है कि स्वामित्व दातासे आदातामें चला जाता है। वस्तुतः शब्दान्तरसे आजकलकी क़ानूनी व्याख्या इसीको दुहराना है।

तब फिर प्रश्न यहाँ पर आकर टिकता है कि क्या लड़की पिताकी सम्पत्ति है? क्या पिताको उसके शरीर पर स्वाम्य है? हम वशिष्ठ

स्मृतिका वह वाक्य देख चुके हैं जिसमें वह कहते हैं कि मातापिताको सन्तानको बेचने, दान करने या अन्य प्रकारसे त्याग देनेका पूर्ण अधिकार है। निश्चय ही कभी ऐसा माना जाता होगा। शुनः शेफकी कथा वैदिककालकी है। उनके पिताने उनको हरिश्चन्द्रके हाथ अग्निको बलि देनेके लिए बेच दिया था। पीछेसे विश्वामित्रने उन्हें बचाया। इस अवसरपर विश्वामित्रने बहुत कड़ी भाषामें हरिश्चन्द्र और उनके पुरोहितकी भर्त्सना की और अग्निको भी बलिसे वंचित रहना पड़ा। सम्भवतः तभीसे नरबलि और सन्तानविक्रयकी प्रथा बन्द हो गई। बादको सन्तानका बेचना अवैध हो गया और बड़े पातकोंमें गिना जाने लगा। मनु कहते हैं:

न कन्यायाः पिता विद्वान्, गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृह्णञ्छुल्कं हि लोभेन, स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी॥

विद्वान् पिता कन्याके लिए थोड़ासा भी शुल्क न ले। लोभवश शुल्क लेनेसे मनुष्य अपत्यविक्रयी—सन्तान बेचनेवाला—हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पिता अपनी लड़कीको बेच नहीं सकता, अतः वह उसके शरीरका स्वामी नहीं है। जब कन्या उसकी सम्पत्ति नहीं है तो वह उसका दान भी नहीं कर सकता।

सम्भव है इस पर यह आरोप उठाया जाय कि पिताका लड़की पर सीमित स्वत्व है वह उसको बेच नहीं सकता परन्तु पुण्यार्जनके लिए उसका दान कर सकता है। मान लीजिये कि यह तर्क ठीक है। तब कन्यादानके द्वारा पिता इस सीमित स्वत्वको अपने जामाताको हस्तान्तरित कर सकता है। उस अवस्थामें जामाताको यह अधिकार होगा कि इस स्वत्वको किसी अन्य व्यक्तिको हस्तान्तरित कर दे। परन्तु पत्नीका दान निषिद्ध है। अतः पतिको पत्नी पर ऐसा कोई स्वत्व नहीं है। दूसरे शब्दोंमें उसको श्वसुरसे ऐसा कोई स्वत्व नहीं मिला। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पिताको कन्यापर ऐसा कोई स्वत्व—दान करनेका अधिकार—नहीं है। पिता

अपनी लड़कीके शरीरका पूरा या आंशिक स्वामी नहीं माना जा सकता। इसलिए कन्यादान वैध दान नहीं है। इस सम्बन्धमें श्रीकृष्णने महाभारतमें उल्लेख योग्य बात कही है। जब उनकी बहिन सुभद्राका अर्जुनके साथ विवाह हुआ तो उनके भाई बलदेव तथा अन्य लोगोंने भी यह आपत्ति की कि विवाह सत्कुलोचित ब्राह्म ढंगसे होना चाहिए था, इसपर श्रीकृष्णने कहा :

प्रदानमपि कन्यायाः, पशुवत् कोऽनुमन्यते।

पशुकी भांति कन्याके दान का अनुमोदन कौन करता है--

इसका भी तात्पर्य स्पष्ट है कि पशु सम्पत्ति हो सकता है, कन्या नहीं।

दूसरे प्रकारसे विचार करके भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। जहां स्वाम्य होता है वहां उपभोज्यता भी होती है अर्थात् वस्तुका स्वामी यदि चाहे तो किसी न किसी प्रकार अपनी सम्पत्तिका उपभोग कर सकता है। प्रश्न यह है कि क्या पिताको कन्याके शरीर पर ऐसा कोई अधिकार है? यदि लड़की यावज्जीवन अविवाहिता रह जाय तो क्या पिता उसके शरीरका कोई वैध उपयोग कर सकता है? इस प्रश्नका एकमात्र उत्तर यह है कि ऐसा नहीं हो सकता। तब फिर यह नहीं कहा जा सकता कि पिताको कन्याके शरीरपर किसी प्रकारका स्वाम्य है।

दूसरे प्रमाण भी हमको इसी ओर ले जाते हैं। स्मृतियों और तत्सम दूसरी पुस्तकोंमें बार बार यह कहा गया है कि ब्राह्म विवाह उसी कन्यासे हो सकता है जो प्रत्ता या दत्ता हो। इसमें स्पष्ट ही कन्यादानकी ओर संकेत है। रत्नाकरके अनुसार '**प्रदानं स्वाम्यकारणम्। प्रदानेनैव कन्यायां वरस्य स्वाम्यं जायते दातुः स्वाम्यं निवर्तते**' प्रदान ही स्वाम्यका कारण है। प्रदानसे ही कन्यामें वरका स्वाम्य उत्पन्न होता है, दाताका स्वाम्य निवृत्त होता है। यही बात यम कहते हैं: '**नोदकेन विना चायं कन्यायाः पतिरुच्यते · · · अनुत्पादितस्वत्वायाः कन्यायाः पाणिग्रहणसंस्कारात् पतिः स्वामिस्वत्ववान्न**'--संकल्पपूर्वक कन्यादानके बिना यह(वर) कन्याका पति नहीं कह-

लाता····यदि इस प्रकार कन्या पर स्वत्व न उत्पादित हो गया हो तो पाणिग्रहण संस्कारमात्रसे पति कन्याका स्वामी नहीं हो सकता। परन्तु हम पहिले देख चुके हैं कि पिता स्वयं कन्याका स्वामी नहीं है अतः वह दूसरेको स्वाम्य कैसे हस्तान्तरित करेगा ? इसका तात्पर्य यह हुआ कि कन्यादानके द्वारा वरको कन्या पर कोई स्वत्व, कोई अधिकार, नहीं प्राप्त होता। इस दशामें कन्यादान निरर्थक कृत्य है।

अन्य प्रकारसे भी इस मतकी पुष्टि होती है। यह स्मृतिसम्मत लोकाचार है कि यदि सप्तपदीके पहिले वरकी मृत्यु हो जाय तो कन्याका दूसरा विवाह हो सकता है। इतना ही नहीं, याज्ञवल्क्य तो यहाँ तक कहते हैं :
दत्तामपि हरेत्पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद्वर आव्रजेत्—

यदि पहिलेसे श्रेष्ट वर मिल जाय, तो दी हुई कन्याको लौटा ले—

यह आदेश तो बहुत अच्छा है परन्तु इससे कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़े होते हैं। स्वयं याज्ञवल्क्यने अन्यत्र कहा है :

सकृत्प्रदीयते कन्या, हरंस्तां चौरदण्डभाक्

कन्या एक बार दी जाती है, उसको हरनेसे चोरीका दण्ड लगता है—

यदि कन्यादानसे वर सचमुच कन्याका स्वामी हो जाता है तो फिर कन्याको हरनेवाला निश्चय ही चोर है। परन्तु उस दशामें पिता उसको लौटाकर दूसरे वरसे, चाहे वह कितना भी योग्य क्यों न हो, कैसे विवाह कर सकेगा ? और फिर सप्तपदीके पहिले वरके मर जानेपर उसका दूसरा विवाह कैसे हो सकेगा ? कन्यादानके बाद वह वरकी सम्पत्ति हो गई और वरके मरनेपर वरके दायादोंकी, उसकी अन्य सम्पत्ति पर सत्ताधारियोंकी, सम्पत्ति हो गई। वह चाहे जो करें परन्तु पिताका उस पर कोई अधिकार नहीं रहा। परन्तु स्मृतियोंके स्पष्ट आदेश यह बतलाते हैं कि सप्तपदी तक पिताको अधिकार रहता है। अतः कन्यादानसे वरको कन्या पर स्वाम्य नहीं प्राप्त होता, अन्यथा यह मानना पड़ेगा कि श्वसुर अपने जामाताका दायाद होता है, जो धर्म्मशास्त्रके सर्वदा विरुद्ध है।

ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्राचीनकालमें किसीको इस संबंधमें शंका नहीं होती थी। पारस्कर गृह्यसूत्रके भाष्यमें कर्कने कन्यादानके प्रश्न पर सुन्दर विचार किया है। उनके तर्ककी तहमें वही सिद्धान्त हैं जिनके अनुसार आज भी सम्पत्तिका हस्तान्तरण होता है। वह कहते हैं:

> **'आदाय गृहीत्वेतिचोभयं न वक्तव्यम्' उच्यते च तत्किमर्थम्। अप्रतिग्रहस्यापि प्रतिग्रहविधिना आदानं यथा स्यादिति।. . . . स्वत्वत्यागपूर्वकं हि परस्वत्वापादनं दानम्। न च कन्या कथंचिदप्यस्वकन्या कर्तुं शक्यते, नापि परस्य कन्या भवति, विवाहस्योत्तरमपि ममेयं कन्येत्यभिधानात्। अत्र गौणो ददातिः॥**

लेकर, ग्रहण करके, ऐसा नहीं कहना चाहिए। परन्तु कहा जाता है, वह क्यों? इसलिए कि अप्रतिग्रहका भी प्रतिग्रहकी विधिसे आदान हो जाय। स्वत्वत्यागपूर्वक दूसरेमें स्वत्वका आपादन दान होता है। परन्तु कन्या कभी भी अस्वकन्या नहीं की जा सकती न वह दूसरेकी कन्या होती है। विवाहके पीछे भी पिता उसको मेरी कन्या कहता है। यह 'दान' शब्दका प्रयोग गौण है—

इसका अर्थ स्पष्ट है। कन्या सदा पिताकी लड़की रहती है, पतिकी लड़की नहीं होती। जो सम्बन्ध पिताका उसके साथ विवाहके पहिले था, वह पीछे भी बना रहता है। अतः न पिता किसी स्वत्वका त्याग करता है, न पति कोई स्वत्व प्राप्त करता है। इसलिए कन्यादान वास्तविक दान नहीं है। यों ही व्यवहारमें इसको दान कहते हैं। यह उस ढंगकी क्रिया है जिसको अंग्रेजी कानूनके शब्दोंमें 'लीगल फ़िक्शन', वैधानिक अलीक, कहते हैं। ऐसे अलीकोंसे समाजमें बहुत काम लिया जाता है। जिन स्त्रियोंका आजन्म विवाह नहीं होता वह कभी कभी कुमारीपनका दोष मिटानेको पेड़से विवाह कर लेती हैं। कन्यादान भी ऐसा ही कृत्य है। लड़कीका पितृगृह छोड़कर पतिगृहमें रहना कल्पित दानके द्वारा वैध बना दिया गया है।

और भी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न इस प्रसंगमें उठते हैं। यदि कोई व्यक्ति उस भावसे दान देता है जिसका उपदेश श्रीकृष्णने गीतामें किया है, यदि उसका स्वत्वत्याग शुद्ध दातव्यबुद्धिसे प्रेरित है, तब तो कुछ कहना नहीं है। वह अपने कर्तव्यका पालन कर चुका। यदि ऋतसत्यात्मक कर्म्मसिद्धान्तके अनुसार उसको इस कृत्यसे पुण्यकी उपलब्धि होती है तो वह उसको यदृच्छया ग्रहण कर लेगा। परन्तु यदि कोई वस्तु किसी फलविशेषकी आकांक्षासे दान की जाय, चाहे वह फल भौतिक या दृष्ट न भी हो, तो फिर कई उलझनें उठ खड़ी होती हैं। आदाताको भी वह शर्त स्वीकार होनी चाहिए। यदि दाता एक उद्देश्यसे दान करता है, आदाता किसी दूसरे उद्देश्यसे ग्रहण करता है तब तो कठिनाई होगी। दान समीचीन होगा ही नहीं। किसी महत्त्वपूर्ण शास्त्रसम्मत संस्कारकी पद्धतिमें ऐसी द्विविधाके लिए स्थान नहीं होना चाहिए परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि कन्यादानके विषयमें गहिरा द्वैविध्य है।

दाताका उद्देश्य तो कन्यादानके संकल्पसे ही प्रकट हो जाता है। वह अपने लिए और अपने कुलके चौबीस अन्य व्यक्तियोंके लिए नरकसे त्राण और स्वर्गमें अक्षय्य निवास चाहता है। परन्तु क्या आदाता भी कन्याको इसीलिए ग्रहण करता है? इसमें सन्देह है।

पहिली बात तो यह है कि वह अपने और अपने पूर्वजोंके लिए ऐसी सुविधाएं चाहता है, मरनेके उपरान्त ससुरालवालोंकी क्या गति होगी इसकी उसको विशेष चिन्ता नहीं है। फिर इस स्थलपर हमको वाग्दान और वरणकी ओर ध्यान देना चाहिए। यद्यपि आजकल इनका महत्त्व पहिले जैसा नहीं है फिर भी विवाहके दूसरे अंगोंपर इनसे प्रकाश पड़ता है। इनमें आनेवाले मंत्रोंका अब भी थोड़ा बहुत उपयोग होता है।

द्राह्यायण गृह्यसूत्रके अनुसार वरके सम्बन्धियोंको चाहिए कि वरका नाम गोत्र आदि बतलाकर कन्याके पितासे कहें 'धर्म्मप्रजार्थ, वृणीमहे' और कन्याका पिता कहे 'दास्यामि।' 'धर्म्मप्रजार्थ वृणीमहे'का अर्थ हुआ:

हम धर्मप्रजाके लिए वरण करते है, अर्थात इसलिए कि इससे धर्म्मप्रजा हो, ऐसी सन्तति जो धर्म्मशास्त्रके अनुसार औरस हो अथवा जो स्वयं धर्म्मचारिणी हो । कन्याका पिता 'दूंगा' कहकर इस मांगको स्वीकार करता है । आपस्तम्व गृह्यसूत्रमें धर्म्मप्रजार्थकी जगह 'प्रजासहत्वकर्म्मभ्यः' आया है । वरणके उपरान्त कन्याको कौषीतक गुह्यसूत्रके अनुसार, यह आशीर्वाद दिया जाता है :

प्रजास्त्वयि दधामि, पशूंस्त्वयि दधामि, तेजोब्रह्मवर्चस्यं त्वयि दधामि तुझमें प्रजा (सन्तति) धारण करता हूँ, तुझमें पशु (अर्थात् धन) धारण करता हूं, तुझमें ब्रह्मवर्चसतेज धारण करता हूं—संकेत यह है कि विवाहके फलस्वरूप कन्याको यह वस्तुएँ प्राप्त होंगी ।

संस्कार पद्धतिके अनुसार, वाग्दानके समय कन्याका पिता कहता है :

वाचा दत्ता मया कन्या, पुत्रार्थं स्वीकृता त्वया ।
कन्यावलोकनविधौ निश्चितस्त्वं सुखी भव ।।

कन्यावलोकन विधिके द्वारा आपने अपने पुत्रके लिए मेरी वाग्दत्ती कन्याको स्वीकार किया है । आप सुखी हों । और वरका पिता कहता है :

वाचा दत्ता त्वया कन्या, पुत्रार्थं स्वीकृता मया ।
वरावलोकनविधौ, निश्चितस्त्वं सुखी भव ।।

आपने वरावलोकन विधिसे जो कन्याका वाग्दान किया उसे मैंने अपने पुत्रके लिए स्वीकार किया । आप सुखी हों ।

अग्निवेश्य गृह्य सूत्रके अनुसार विवाहके अन्तमें वर कहता है : **अनया सह मया कर्म्माणि कर्तव्यानि । प्रजाश्चोत्पादयितव्याः, तदर्थं एनां परिणेष्ये ।**

इसके साथ मुझे (वैदिक) कर्म्म करने हैं और प्रजा (सन्तान) भी उत्पन्न करनी है, इसलिए इससे विवाह करता हूं—

वैदिक कर्म्म अर्थात् यज्ञ सस्त्रीक ही हो सकते हैं । तैत्तिरीय ब्राह्मणका

स्पष्ट कहना है कि: अयज्ञियो वा एषयोऽपत्नीक:—जो पत्निहीन है वह अयज्ञिय, यज्ञका अनधिकारी है। इसीलिए वर कहता है कि मुझे इसके साथ कर्म्म करने हैं। यही बात ऋग्वेदके सूर्य्या विवाह प्रकरणमें कही गई है। वर कन्यासे कहता है कि तुम वीरसू और देवकामा, वीर पुत्रोंकी माता और देवकार्य्यमें चित्त देनेवाली, बनो।

इस सारी बातचीतमें कहीं कन्याके पिताके कुटुम्बियोंका चर्चा नहीं है। वरके हितके लिए विवाह हो रहा है ताकि उसको सन्तान हो और वह यज्ञ कर सके। यज्ञ करनेका फल वरको ही मिल सकता है, उसके ससुरालवालोंको नहीं। कहीं भी पंचमहायज्ञ या इष्टापूर्तके संकल्पमें यह बात नहीं कही जाती कि इस कृत्यका फल यजमानके श्वसुरको मिले। वर कन्याका हाथ पकड़ते समय पाणिग्रहणके अवसर पर कन्यासे कहता है :

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्य्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥
(ऋक् १०–८५–३६)

मैं तेरा हाथ सौभाग्यके लिए पकड़ता हूं जिससे तू मुझ पतिके साथ वृद्धा हो (अर्थात् हम दोनों बहुत दिनों तक जियें)। भग, अर्य्यमा, सविता और पुरन्धि (पूषा) देवोंने तुझे मुझको गार्हपत्यके लिए दिया है। इसलिए दिया है कि मैं गृहपति बनूं।

वरण और वाग्दानमें यह बात स्पष्ट करदी गई है कि वर कन्याको किसलिए चाहता है और कन्याके पिताने उन शर्तोंको स्वीकार किया है। उसने किसी स्थलपर दूसरी शर्त नहीं रक्खी, अपने या अपने पूर्वजोंके हितका नाम नहीं लिया, नहीं तो सम्भव था कि वर पक्ष इस शर्तपर कन्याका ग्रहण न करता। अब सब बातोंके तय हो जानेपर वह किसी नई शर्तका प्रक्षेप नहीं कर सकता। वह यह नहीं कह सकता कि मैं इस कन्याको अपने कुलके कुछ व्यक्तियोंके हितके लिए दे रहा हूँ। कन्यादानका संकल्प उन

बातोंके प्रतिकूल है जिनके आधारपर विवाह निश्चित हुआ था, अतः कन्यादान अवैध है ।

प्राचीनकालमें ऐसा नहीं था । आज जो उद्देश्य संकल्पमें बताया जाता है वह पीछेसे जोड़ा हुआ प्रतीत होता है । कन्यादानके पुराने संकल्पका रूप वैखानसगृह्य सूत्रमें मिलता है । उसके अनुसार कन्याका पिता कन्या इसलिए देता है :—'**अस्य सहधर्म्मचारिणी भवतीति ब्राह्मे विवाहे धर्म्मप्रजासम्पत्त्यर्थं यज्ञापत्त्यर्थं ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थं**'—इसकी सहधर्म्मचारिणी हो इसलिए ब्राह्मविवाहमें धर्म्मप्रजाकी उत्पत्तिके लिए, यज्ञ सम्पादनके लिए और ईश्वर, देवगण, ऋषिगण और पितृगणकी तृप्तिके लिए, (वरको कन्या देता है)। यह संकल्प परिपूर्ण है और सर्वथा वेदसम्मत है तथा वरण, वाग्दान और पाणिग्रहणमें जो सिद्धान्त अन्तर्हित हैं उनके अनुकूल है ।

इन सब बातोंको ध्यानमें रखते हुए डाक्टर आल्टेकरने 'दि पोज़िशन आव विमेन इन हिन्दू सिविलिज़ेशन' में जो यह मत प्रकट किया है वह ठीक प्रतीत होता है :

यह बतला देना चाहिए कि कन्याका दान उपचारमात्र था : 'उससे पतिको यह अधिकार नहीं मिलता था कि पत्नीसे चाहे जैसा बर्ताव करे । जिस वस्तुको मनुष्य यज्ञाग्निके सामने पवित्र दानके रूपमें प्राप्त करता है वह वस्तुतः ऐसी थाती है जिसके समुचित प्रतिपालनके लिए वह ईश्वरके प्रति दायी है ।' सच बात तो यह है कि न केवल पति वरन् दम्पती अपने ऊपर एक पवित्र कर्तव्य लेते हैं । वह यह संकल्प तो करते नहीं कि हम वधूके पिता और उनकी आगे पीछेकी पीढ़ियोंको पापोंके दण्डसे मुक्त करा देंगे, हाँ उन कर्म्मोंका व्रत लेते हैं जो प्रत्येक गृहस्थके लिए करणीय हैं । ऐसे कर्म्मोंका याज्ञवल्क्य स्मृतिके पंचम अध्यायमें विशद्वर्णन है और, कालोचित व्याख्याके साथ, उनका महत्त्व आज भी उतना ही है ।

थोड़ी देरके लिए हम कन्यादानकी वैधताके प्रश्नको छोड़ देते हैं

और इस बात पर विचार करेंगे कि उससे किस प्रयोजनकी सिद्धि होती है ।

ऐसा माना जाता है कि कन्यादानसे वर कन्याका स्वामी बन जाता है, हम इस मतकी आलोचना कर चुके हैं और 'यह दिखला चुके हैं कि वर कभी भी कन्याका स्वामी नहीं होता । इस दृष्टिसे तो कन्यादान निरर्थक है । अब यदि यह निश्चय हो कि वरकन्याको पति पत्नी बनानेमें कन्यादानका कोई उपयोग हो कि तब भी उसकी सार्थकता हो सकती है । वरकन्यामें पतित्व और पत्नीत्व किस क्षणमें आता है इस सम्बन्धमें शास्त्रोंका एकमत नहीं देख पड़ता । द्राह्यायण गृह्यसूत्रकी वृत्तिमें वरणका वर्णन करते हुए रुद्रस्कन्दने 'पत्युर्ज्ञातिय':—पतिके जातिवाले—प्रयोग किया है । यह लोग 'बध्वाः'—बधूके—घर जाते हैं । कन्यादान होनेके पहिले ही पति और बधु शब्दोंका व्यवहार विचित्र है । इससे इतना तो प्रतीत होता है कि सामान्य बोलचालमें ऐसा प्रयोग हो जाता था ।

एक और विचारणीय बात है । यदि यह मान भी लिया जाय कि कन्यादानसे किसी प्रकारके स्वत्वका उत्पादन होता है तो यह काम एकांगी होगा । वरको तो कन्या पर अधिकार मिला परन्तु कन्याको क्या मिला ? उसके लिए 'अधिकार' शब्दका व्यवहार उतना ही उचित होगा जितना कि पाले हुए पशुके लिए । यदि यह माना जाय कि गायबकरीको अपने स्वामीसे भरण पोषण पानेका अधिकार है तो इतना अधिकार पत्नीको भी वरसे होगा । इसीलिए वह भार्य्या कहलाती भी है । एक अन्तर है । भेड़बकरीको सबकुछ चुपचाप सहना पड़ता है, भार्य्या रोटी कपड़ेके लिए न्यायालयके द्वार खटखटा सकती है ।

विवाहका समानार्थक उद्वाह है । इन शब्दोंका व्यवहार शिक्षित अशिक्षित, बाल, वृद्ध, सभी करते हैं और इनका अर्थ भी सुबोध, सबका जाना हुआ, है । परन्तु जो वस्तु सामान्य मनुष्यको सुबोध लगती है उसीमें कभी कभी विद्वानोंको शंका हो जाती है । साधारण मनुष्य ऐसा मानता है कि विवाह वह कृत्य या उपचार है जिसके परिणामस्वरूप स्त्री विशेष

पुरुष विशेषकी पत्नी और वह पुरुष उसका पति हो जाता है। स्मृतितत्त्वम्के अनुसार 'भार्य्यात्वसम्पादकंग्रहणंविवाह':—भार्य्यात्व (और अर्थापत्तिसे पतित्त्व) सम्मादक ग्रहणको विवाह कहते हैं। यह परिभाषा तो बोलचालके अनुकूल ही है परन्तु इसमें ग्रहण शब्द विचारणीय है। ग्रहणसे यह ध्वनि निकलती है, किसीसे ग्रहण, किसीसे स्वीकृति या प्राप्ति। विवाहके लिए यह आवश्यक होगा कि कोई किसीसे कुछ ले। विवाहकी समूची पद्धतिमें देने लेनेकी बात वरण, वाग्दान और कन्यादानमें देखी जाती है। कन्यादान प्रकरणमें वरको प्रतिग्रहीता कहा भी जाता है। तो क्या इससे यह मान लिया जा सकता है कि कन्यादानपर विवाह सम्पूर्ण हो जाता है अर्थात् पाणिग्रहण और सप्तपदीके पहिले ही सम्पन्न हो जाता है? इस कल्पनाका समर्थन एक अप्रत्याशित स्थलसे मिलता है। हरिवंश महाभारतका पूरक ग्रन्थ माना जाता है और पूज्य दृष्टिसे देखा जाता है। लोगोंको ऐसा विश्वास है कि उसको पढ़ने और सुनने तथा उसकी प्रति ब्राह्मणको देनेसे निःसन्तानोंको भी सन्ततिलाभ होता है। उसमें त्रिशंकु उपाख्यान नामकी कथा आई है। इसका संक्षिप्त कथानक यह है कि राजा त्र्य्यारुणके लड़के सत्यव्रतने किसी लड़कीको विवाहमण्डपसे हर लिया। उसके इस कृत्यसे रुष्ट होकर पिताने घरसे निकाल दिया और जंगलमें श्वपचोंके साथ रहनेका आदेश दिया। अन्तमें विश्वामित्रकी सेवासे उसके पापका प्रायश्चित्त हुआ। सत्यव्रतके इस निन्दनीय कार्य्यका वर्णन इन शब्दोंमें किया गया है:

पाणिग्रहणमन्त्राणां, विघ्नं चक्रे स दुर्मतिः।
येन भार्य्या हृता पूर्वं, कृतोद्वाहा परस्य वै॥

उस दुर्मतिने जिसने पहिलेसे उद्वाह की हुई दूसरेकी भार्य्याको हर लिया था पाणिग्रहण मंत्रोंमें विघ्न डाला—

इस श्लोककी भाषा अद्भुत है। हरिवंश जैसी प्रशस्त पुस्तकमें आनेसे

विचारको और भी खींचती है। एक स्त्री किसीकी भार्य्या थी। इतना कहना ही पर्य्याप्त था परन्तु कृतोद्वाहा (उद्वाह की हुई, विवाहिता) कहकर उस बातकी और पुष्टि कर दी गई। विवाहिता भार्य्या कहना वैसा ही है जैसे आजकल पत्नीकी जगह धर्मपत्नी कहनेका चलन बढ़ गया है। अस्तु, जब भार्य्या हरी गई तो विवाहके पीछे ही ऐसा हुआ होगा। परन्तु यहां कहा गया है कि पाणिग्रहण मंत्रोंमें विघ्न डाला गया, पाणिग्रहण नहीं होने पाया। तो फिर क्या पाणिग्रहणके पहिले ही स्त्री भार्य्या हो जाती है और विवाह पूरा हो जाता है? यदि ऐसा होता है तो फिर पाणिग्रहण और सप्तपदीका उपयोग क्या है?

ऐसा प्रतीत होता है कि विवाह शब्दके शास्त्रीय अर्थमें काल पाकर कुछ परिवर्तन हुआ है। स्मृतितत्वम्के अनुसार विवाहस्तु पाणिग्रहणात्पूर्वं वृत्तएव—विवाह तो पाणिग्रहणके पूर्व ही हो चुकता है। यह वाक्य हरिवंशमें दिये हुए प्रयोगके अनुसार है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिग्रहणके पूर्वके तीनों कृत्यों—वरण, वाग्दान और कन्यादान—के समुच्चयको किसी समय विवाह कहते थे। परन्तु यह नहीं पता चलता कि पाणिग्रहण और सप्तपदीका कोई संयुक्त नाम था या नहीं। यह भी ज्ञात नहीं होता कि सम्पूर्ण कृत्यको क्या कहते थे। यह तो स्पष्ट ही है कि विवाह शब्दका यह प्रयोग संस्कारगणपतिके इस कथनके सर्वथा प्रतिकूल है:

वाग्दानं च प्रदानं च, वरणं पाणिपीडनम्।
सप्तपदीति पञ्चाङ्गोविवाहः परिकीर्तितः॥

विवाह पंचांग कहलाता है। उसके यह अंग हैं: वाग्दान, प्रदान, (कन्यादान), वरण, पाणिपीड़न (पाणिग्रहण) और सप्तपदी।

इसी प्रकार मनुने एक जगह विवाह शब्दका भ्रमोत्पादक प्रयोग किया है। वह कहते हैं: स्वगोत्राद्भ्रश्यते नारे, विवाहात्सप्तमे पदे—नारी विवाहसे सातवें पद पर अपने गोत्रसे पृथक् होती है—अर्थात् पतिके

गोत्रमें मिल जाती है। 'विवाहसे सातवें पद पर'का कुछ ठीक अर्थ नहीं लगता। सातवां पद तो सप्तपदीका अन्तिम पद हुआ। यदि यह विवाहसे सातवां पद है, तो फिर विवाह किसको कहते हैं? क्या पाणिग्रहणकी समाप्तिका नाम विवाह है? यह भी बोलचालका ढीला प्रयोग है, शुद्ध शास्त्रीय दृष्टिसे ठीक नहीं है।

यह प्रायः सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि सप्तपदीके अन्तिम पद पर विवाहकी विधि पूरी होती है। स्मृतितत्त्वमके अनुसार कृत्स्नंहिजायापतित्वं सप्तमेपदे—सम्पूर्ण जायापतित्व (पति-पत्नी सम्बन्ध) सप्तमपदपर (उत्पन्न होता है या सम्पन्न होता है)। मनु भी कहते हैं:

पाणिग्रहणिका मन्त्राः, नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया, विद्वद्भिः सप्तमे पदे॥

पाणिग्रहणके मंत्र निश्चय ही पत्नीत्वके लक्षण हैं। विद्वान् लोग जानते हैं कि उनकी निष्ठा (उनकी समाप्ति) सप्तमपद पर होती है—

इसी बातको यम भी कहते हैं:

नोदकेन न वा वाचा, कन्यायाः पतिरिष्यते।
पाणिग्रहणसंस्कारात्, पतित्वं सप्तमे पदे॥

उदक (कन्यादान) या वाग्दानसे कन्याका पति नहीं कहलाता। पतित्व पाणिग्रहण संस्कारसे सातवें पदपर होता है—

यहाँ 'पाणिग्रहण संस्कारसे' कहना कुछ अनावश्यक सा प्रतीत होता है और भ्रामक भी हो सकता है। सप्तमपद तो सप्तपदीका अंग है। मनुस्मृतिके भाष्यमें कुल्लूकभट्टने इसके पहिले दिये श्लोकके 'पाणिग्रहणिकामंत्राः (पाणिग्रहणके मंत्र) की व्याख्या वैवाहिक मंत्र किया है। उनका तात्पर्य है कि ऐसे स्थलोंमें विवाहकी जगह पाणिग्रहण लिख दिया गया है। यही बात यमस्मृतिसे उद्धृत श्लोकके लिए भी लागू है।

इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है पति-पत्नी सम्बन्ध सप्तपदीके अन्तिम पद पर स्थापित होता है। इसके पहिले जो कुछ होता है वह प्रस्तावना-

मात्र है। आधुनिक व्यवहार भी यही है, न्यायालय भी इसी बातको मानते हैं। सम्पत्ति-सम्वन्धी बहुतसे अभियोगोंकी सफलता असफलता इसी बातपर टिकती है कि सप्तपदी यथावत् हुई या नहीं। यदि इसमें कुछ भी त्रुटि प्रमाणित हुई तो ऐसा माना जायगा कि विवाह हुआ ही नहीं।

कभी कभी ऐसा कहा जाता है कि कन्या तो सप्तपदीके बाद ही भार्य्या होती है परन्तु वर कन्यादानके साथ ही उसका स्वामी हो जाता है। पर यह पक्ष तो सर्वथा अमान्य है। पहिले तो मैं यह दिखला आया हूं कि कोई व्यक्ति स्त्रीके शरीरका कभी भी स्वामी नहीं हो सकता। दूसरे, यह प्रश्न उठता है कि कन्यादान और सप्तपदीके बीचमें वैधानिक अवस्था क्या है? वर स्वामी है पर पति नहीं है, कन्या सम्पत्ति है परन्तु पत्नी नहीं है। क्या वास्तविक स्थिति ऐसी ही है? मान लीजिए कि कन्यादानके बाद ही कोई वर उठ खड़ा हो और शेष कृत्य रोक दे तो क्या होगा? स्त्री उसकी भार्य्या तो हुई नहीं, इसलिए उसको पत्नीके अधिकार प्राप्त नहीं हुए। वह वरकी सम्पत्ति हो गई। उसको इस वन्धनसे छुड़ानेकी कोई विधि शास्त्रोंमें नहीं दी है। तो क्या वर उसको अपने घर क्रीत दासीकी भांति ले जा सकता है? यदि 'प्रदानस्वाम्यकारणम्' का सिद्धान्त ठीक है तो उसको ऐसा अधिकार होना चाहिए। परन्तु यह तो शास्त्रोंका उद्देश्य नहीं हो सकता। देव, ऋषि, पितृगण इसलिए तो नहीं पुकारे जाते कि किसी पुरुषके हाथमें दासी, या गाय वकरीकी भांति सम्पत्तिके रूपमें एक निरीह अबला सौंप दी जाय। इसका बचाव यों कहकर नहीं किया जा सकता कि वर कन्यादान पर केवल स्वामी होता है, पति सप्तपदी पर होता है, परन्तु कन्या कन्यादानके साथ ही पत्नी हो जाती है। भार्य्यात्वानुनिष्पादि पतित्वम—भार्य्यात्वके साथ ही पतित्व निष्पन्न होता है। यहां 'अनु' का अर्थ क्षणान्तर नहीं प्रत्युत युगपत् ही करना होगा। पति और पत्नी, भर्ता और भार्य्या, अन्योन्याश्रित हैं, इनमें अन्वयव्यतिरेकी सम्बन्ध है। जहां एक होगा, वहां दूसरा होगा। न विना भार्य्याके भर्ता हो सकता

, न बिना भर्ताके भार्य्या हो सकती है। अतः कन्यादान यह नहीं कर कता कि वरको स्वामी तो बना दे पर कन्याको भार्या न बनाये। परन्तु ब यह स्पष्ट है कि कन्या सप्तपदीके अन्तिम पद पर ही भार्य्या होती है ो वर भी उसी समय भर्ता होता होगा। कन्यादानसे वरको कोई अधिकार हीं प्राप्त होता।

इन सब तर्कोंसे यह स्पष्ट है कि कन्यादानसे न किसी स्वत्वका सर्जन ोता है न विसर्जन और न हस्तान्तरण। कन्यादानके पूर्व और पश्चात् र और कन्याके परस्पर सम्बन्धमें कोई अन्तर नहीं पड़ता, उनमें कोई नया म्बन्ध स्थापित नहीं होता। यदि कन्यादान इस उद्देश्यसे किया जाता ो कि पिता और उसके पूर्व तथा परवर्ती कुटुम्बियोंको अपने पापोंसे ुटकारा पानेका सस्ता उपाय हाथ लग जाय तो इस उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हो कती। यदि कन्यादानके यही अभिप्राय हैं तो वह निष्फल क्रिया है और केसी प्रकारकी हानिकी आशंकाके बिना विवाहकी पद्धतिसे निकाली जा कती है।

चौथा अध्याय

कन्यादानका वास्तविक भाव

तीसरे अध्यायको पढ़नेके बाद सम्भव है ऐसा प्रतीत हो कि मैं कन्यादानको व्यर्थ समझता हूँ और यह चाहता हूँ कि विवाहकी पद्धतिमेंसे उसे निकाल दिया जाय। वस्तुत: मेरा यह अभिप्राय नहीं है। मेरी शिकायत यह है कि हम कन्यादानके वास्तविक भावको भूल गये हैं। मेरा अभियोग यह है कि हिन्दू समाजके सहज नेताओं, हमारे ब्राह्मणोंने हमारे बहुतसे कृत्यों और संस्कारोंको, जिनमेंसे कन्यादान भी एक है, तमाशा बना डाला है। कुछ थोड़ेसे वैदिकमंत्रोंमें बहुतसे नये अनुष्टुप् श्लोक मिला दिये गये, यज्ञ जो मुख्य कृत्य था एक कोनेमें डाल दिया गया, वैदिक देवताओंको पौराणिक देव-देवियोंने दबा लिया—इस प्रकार समूचा रूप ही बदल जाता है। आर्य्यजातिके पूर्व पुरुषों, ऋषियों और मनुओंका उद्देश्य लुप्तप्राय हो जाता है और उनकी जगह क्षुद्र भावनाएँ बैठा दी जाती हैं। आज हिन्दू विवाह पद्धति नीरस हो गई है और उससे जी ऊब उठता है। उभय पक्षके पुरोहित न जाने क्या पढ़ते हैं जिसका वर कन्यासे कोई सम्बन्ध नहीं देख पड़ता, कुछ वाक्योंका अनुवाद मातृभाषामें कर भी दिया गया तो ऐसा करनेका ढंग प्रभावोत्पादक नहीं होता।

मेरा आक्षेप संस्कृत भाषा पर नहीं है। मेरी राय है कि संस्कृतका ही व्यवहार होना चाहिए अन्यथा हिन्दू विवाहमें संस्कारका रूप ही न रह जायगा। प्रदेश प्रदेश वर्ण वर्णकी अलग भाषा होकर विवाह साधारण व्यापारी इक़रारनामों जैसी चीज़ बन जायगा। लैटिन भाषाका प्रयोग पृथ्वीभरके रोमन कैथलिक करते हैं परन्तु अपने संस्कारोंके गाम्भीर्यको

नहीं बिगड़ने देते। आवश्यकता इस बातकी है कि पुरोहित वर्ग, और उससे भी पहिले हमारा पण्डित समाज, स्वयं विवाहके अंगोंके भेदको समझे और फिर विवाहकालमें वरकन्याको समझाये।

मेरी समझमें कन्यादानका महत्व बहुत बड़ा है। हम देख चुके हैं कि विवाह पञ्चाङ्ग है। पहिलेके दो अंगोंमें वरकन्याके अभिभावकों और दूसरे गुरुजनोंमें बातचीत हुई है। उन्होंने सब बातोंको देखकर सम्बन्ध स्थिर किया है। ऐसा मानना चाहिए कि भावी दम्पतीको इन बातोंका पता होगा परन्तु अब तक प्रत्यक्षरूपसे उनका काम नहीं पड़ा। यह बात अब तीसरे अंग, कन्यादान, में होती है। वर और कन्याका एक दूसरेसे परिचय होता है। परन्तु केवल इतनी बात नहीं है। परिचयके साथ-साथ कन्याका पिता वरसे यह प्रार्थना करता है कि आप इस कन्याको ले लीजिये और वर इस प्रार्थनाको स्वीकार करता है। यही प्रतिग्रह है। परन्तु प्रतिग्रह—कन्याको देने और लेने—का उद्देश्य वह नहीं है जो आज लोकमें प्रचलित है। पिताका कन्या पर कोई स्वत्व नहीं है जिसे वह वरको हस्तान्तरित कर सकता हो। यह भी नहीं है कि लड़की उसके लिए भार हो गई है, वह इस बोझको दूसरेके कन्धोंपर फेंकना चाहता है। बात दूसरी ही है। कन्याका पिता वरको अधिकार नहीं वरन् कर्तव्य सौंपना चाहता है। देने लेनेका इस प्रसंगमें यही अर्थ है। अब तक उसने लड़कीका भरणपोषण किया और उसको ऐसी दैहिक और बौद्धिक शिक्षा दी कि वह समाजमें अपने यथोचित स्थानको प्राप्त कर सके। स्थानको प्राप्त करना तभी पूरा होता है जब उस स्थानके उपयुक्त कर्तव्योंका पालन किया जा सके, नहीं तो ऊंचेसे ऊंचे स्थानसे भी स्खलन होता है। अब वयस्का होने पर लड़कीको जिन कर्तव्योंका वहन करना है वह पतिके साथ ही उठाये जा सकते हैं। जिस दिनके लिए पिताने कन्याको पाला था, वह दिन आया। यह उसका सौभाग्य है कि वह उसके लिए योग्य वर, अनुरूप जीवनसंगी ढूंढ सका। अब वह उन दोनोंको धर्म्मकी दुर्गम घाटीमें प्रवेश

करनेका, आह्वान करता है। सचमुच धर्म्मका पथ 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'—छुरेकी पतली तीखी धार है। कभी कभी पारिजातकी मधुर गन्ध भी आ जाती है परन्तु कर्तव्यका पालन करना काँटोंकी सेज पर सोनेके समान है। वरकन्याको अब इस पथका पथिक बनना है। कन्यादानमें उनको इसकी सूचना दी जाती है। अबतकका उनका जीवन इसीके लिए तैयार ही था। कन्यादान दान नहीं समर्पण है। कन्या सर्मपित की जाती है परन्तु वरकी सेवाके लिए नहीं, वरके माध्यमसे सनातन, शाश्वत, धर्म्मकी सेवाके लिए।

दम्पतीका पहिला कर्तव्य गृहस्थाश्रमको अक्षुण्ण रखना है। स्त्री और पुरुषका रतिसम्बन्ध तो पशु पक्षियोंके ढंग पर भी हो सकता है। वासनासे प्रेरित होकर मिल जाना और फिर अलग हो जाना सम्भव है परन्तु इस आधार पर समाज नहीं टिक सकता। बड़े पशुपक्षी तकमें कौटुम्बिक जीवनका सरलरूप विद्यमान है, बर्बर मनुष्य भी कुटुम्ब बना कर रहता है। और जहाँ कुटुम्ब है, वहाँ कर्तव्योंकी शृंखला और स्वेच्छाचारिता पर अंकुश है। मनु कहते हैं:

यथा वायुं समाश्रित्य, वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः॥
ऋषयः पितरो देवा, भूतान्यतिथयस्तथा।
आशासते कुटुम्बिभ्यः, तेभ्यः कार्य्यं विजानता॥

जैसे सब प्राणी वायुके आश्रित होकर जीते हैं, इसी प्रकार सब आश्रम गृहस्थके आश्रित होकर जीते हैं। ऋषि, पितृ, देव, इतर प्राणी, अतिथि सब कुटुम्बियोंसे आशा रखते हैं। ज्ञानीको उनके प्रति वैसा ही व्यवहार करना चाहिए—

जंगली अवस्थामें जहाँ सब केवल अपने लिए जीते हों मनुष्य चाहे जैसे रह ले परन्तु समाजमें तो सबका सबसे सम्बन्ध है। यदि समाजको उन्नत रखना है तो विद्यार्थियोंके लिए, श्रमिकोंके लिए, सैनिकोंके लिए,

विद्वानोंके लिए, धर्म्माचार्य्योंके लिए, रोगियोंके लिए, वृद्धोंके लिए भोजनादिकी व्यवस्था करनी होगी, जो छोटा है उसको कर्तव्य सिखाना होगा, जो सेवा करके श्रान्त हो गया उसको आराम करने देना होगा। यह सब तभी होगा जब सब लोग अपने नागरिक कर्तव्योंको पहिचानें और उनका पालन करें। नागरिक पर ही समाज अवलम्बित है। आजकलकी भाषामें मनुके कथनका यही अर्थ है। घरमें रहनेसे गृहस्थ नहीं होता—गृहीके कर्तव्योंका पालन करनेवाला ही गृहस्थ है।

तैत्तिरीय ब्राह्मणके अनुसार 'अयज्ञियो वा एषयोऽपत्नीकः'—पत्नीहीन पुरुष यज्ञका अधिकारी नहीं होता। रामचन्द्रजीको सीताकी स्वर्णप्रतिमा बैठानी पड़ी थी। यज्ञ केवल उस कृत्यको नहीं कहते जिसमें मंत्र पढ़कर आगमें आहुति डाली जाती है। जो कोई भी काम शुद्ध बुद्धिसे किया जाय वह यज्ञ हो सकता है परन्तु उत्कृष्ट यज्ञ वह है जो परार्थ किया जाय। भगवद्‌गीताके चतुर्थ अध्यायमें यज्ञके कई प्रकार गिनाये गये हैं। यज्ञ तभी सम्पूर्ण होता है जब बलि दी जाय, निरीह पशुओंकी नहीं वरन् अपने अधम स्व की, अपनी काम, क्रोध, लोभमयी प्रवृत्तियोंकी। इस बलिसे जो शक्ति उत्पन्न होती है वही यज्ञको सम्पन्न कराती है। वेद कहते हैं कि सृष्टिके आरम्भमें जीवोंके कल्याणके लिए देवोंने यज्ञ किया था। यह विश्व शिव-शक्तिका महायज्ञ है, इसलिए यज्ञमें पति पत्नीका योग होना ही चाहिए। दो शरीर परन्तु चित्त एक, संकल्प एक, लक्ष्य एक—तभी यज्ञ पूरा उतरता है। जहां तक यज्ञ दृष्टिसे संसारी कामोंके करनेकी बात है, यह कौन नहीं जानता कि स्त्री ऐसे कामोंमें अमूल्य सहायता दे सकती है। कान्ता सम्मित रूपसे, प्रेमसे, भर्त्सना करती है, परामर्श देती है, उत्साह बढ़ाती है, चिन्ता बाँट लेती है। स्त्रीका जीवन त्याग और तपस्याकी कहानी है, वह पुरुषको भी मूकभाषामें यह पाठ पढ़ाती है। इसीलिए स्त्रीको सहधर्म्मिणी कहते हैं। न तो पुरुषके बिना स्त्री समीचीन रूपसे कर्तव्य पथ पर आरूढ़ हो सकती है, न स्त्रीके बिना पुरुष।

प्राचीन कालमें जब स्नातक विद्या प्राप्त करके गुरुकुलसे बिदा होने लगता था तो उसको अन्य बातोंके साथ गुरु यह आदेश भी देता था 'प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः'—प्रजातन्तु, सन्तानोत्पादनके क्रमको मत काटो, जिस प्रकार तुम्हारे पूर्वज सन्तति छोड़ गये वैसे तुम भी छोड़ जाओ। हम पहिले दिखला चुके हैं कि पत्नी और सन्तानके बिना पुरुष तथा पति और सन्तानके बिना स्त्री अकृत्स्न—अपूर्ण—है। मनुष्यके कई ऐसे गुण हैं जो समाजकी व्यवस्थाके लिए नितान्त आवश्यक हैं परन्तु उनका विकास एकाकी नहीं हो सकता, कुटुम्बके भीतर रह कर ही उनके पनपनेका अवसर मिलता है। सबसे अलग रहकर उदारताका अभ्यास नहीं हो सकता। दूसरोंके लिए अपने सुखको छोड़ देना, दुर्बलोंकी सुश्रूषा करना, अशक्तोंको शक्त बनाना, जो कुछ हो बाँटकर भोगना—इनकी शिक्षा गृहस्थीमें ही मिलती है। आजकल यह भाव बढ़ रहा है कि विवाह हो पर सन्तान न हो। यह भाव समाजके लिए घातक होगा। एक और बात है। दम्पतीको प्रजापति और जगद्धात्रीका काम करना है। परमात्मा जीवोंकी सृष्टि नहीं करता, अभावसे भाव नहीं उत्पन्न करता, न वह लीलाके लिए, खेल देखनेके लिए, जगत्का निर्माण करता है। जीव अनादि हैं। उनको अपने कर्म्मोंके संस्कारोंके अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त करने हैं। फलभोगके अनुकूल जगत् बने बिना रह नहीं सकता। परमात्मा निमित्तमात्र है। न जाने कितने शरीरोंमें भ्रमण करता किसी जीवके मनुष्य शरीरमें आनेका-योग उत्पन्न होता है। ऐसे शरीरको बननेके लिए दम्पतीका, पिता माता बननेको प्रस्तुत पुरुष और स्त्री होना अनिवार्य है। इनकी सहायताके बिना जीवको मनुष्य-शरीर नहीं मिल सकता। पितृत्व—बाप-मां होना—आकस्मिक घटना नहीं है, वह तो बहुत बड़ा दायित्व है जो इच्छापूर्वक अपने ऊपर लिया जाता है। बच्चेके प्रसवसे ही दायित्व समाप्त नहीं होता—उसकी ऐसी शिक्षा दीक्षा करनी है जिससे न केवल यह जन्म प्रत्युत आगेके लिए भी उसका जीवन सुधरे। माता पिताको यह समझना है कि

भगवान्‌ने हमारा बहुत बड़ा विश्वास करके हमको यह थाती सौंपी है— हमारा धर्म्म है कि इसे उन्नत बनाकर तब लौटाएं। पिता अपने क्षेत्रमें प्रजापति, माता आद्याशक्ति है।

और फिर स्त्रीको इस प्रकार जीवन निर्वाह करना है कि न केवल उसको प्रत्युत उसके पतिको परम पुरुषार्थ, जीवनका चरम ध्येय, मोक्ष प्राप्त हो। दुर्गासप्तशतीके अर्गलास्तोत्रमें पत्नीको 'तारिणी दुर्गसंसार-सागरस्य'—दुस्तर संसारसागरसे पार उतारनेवाली—कहा है। सती इस जगत्‌में ब्रह्माकी उत्कृष्टतम रचना है, वह भगवती पार्वतीका स्वरूप है; पति, सन्तति, कुल, राष्ट्रको पुनीत करनेवाली धर्म्मकी चलप्रतिमा है; पतिके लिए इस लोक और परलोकका सम्बल है; उसके चरणों पर देवोंके भी सिर झुकते हैं।

इन्हीं कर्तव्योंके पालन करनेके लिए पिताने लड़कीको अपने घर पर तैयार किया था। पिता माताके चारित्र्य और उपदेशोंने अब उसको इस योग्य बनाया है कि वह उन कृत्योंका बोझ अपने कन्धों पर ले जो पितृगृहमें रहकर नहीं उठाये जा सकते। कन्यादानमें पिता उसको उस पुरुषसे मिलाता है जो उसकी प्रतीक्षा कर रहा था, जो धर्म्मपथ पर उसका साथी होगा, जो भार एकसे नहीं उठ सकता उसको दोनों मिलकर उठायेंगे। उपनयनके समय वरका दूसरा जन्म हुआ था। उसने सहज सरल पथको, उस स्वार्थमूलक पथको जिस पर पशु भी चल सकता है, छोड़कर धर्म्ममय, उत्सर्गमूलक जीवन बितानेका व्रत लिया था। उसी प्रकार कन्यादान कन्याकी दीक्षा है। वह भी अबसे इस कँटीले मार्गकी व्रती बनती है।

कन्यादानका यही महत्त्व है। यह बड़े दुःखकी बात है कि समाजने इसे भुला दिया है। जो लोग गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने जा रहे हैं उनको इस कदम उठानेकी गुरुताका बोध नहीं कराया जाता और वह बिना यह समझे हुए कि कितने बड़े दायित्वका बीड़ा उठाने जा रहे हैं विवाहको हँसी खेल मान बैठते हैं।

H2259

विवाहकी पद्धति कन्यादान पर समाप्त नहीं हो सकती। कन्याके पिताने वरसे प्रार्थना की कि वह कन्याको स्वीकार करे ताकि दोनों मिलकर गृहस्थधर्म्मको प्रशस्त करें और वरने अपनी स्वीकृति दे दी। पर इतना ही पर्याप्त नहीं है। जब दो व्यक्तियोंको मिलकर कोई काम करना है तो दोनोंकी स्वीकृति होनी चाहिए। सारे जीवनका सौदा है। जब दो प्राणी एक साथ रहेंगे तो दोनोंको एक दूसरेका लिहाज़ करना होगा। एकको दूसरेके व्यक्तित्वका आदर करना होगा, दोनोंको नियत सीमाके भीतर स्वतन्त्रता मिलनी होगी। स्वेच्छाचारिता बुरी चीज़ है परन्तु पराधीनता भी उतनी ही बुरी चीज़ है। सर्वपरवशंदुःखम्। जिन शर्तों पर पति पत्नीको साथ रहना है उनकी व्यवस्था पाणिग्रहणमें की गई है। दोनों ओरसे वचन प्रतिवचन होते हैं ताकि आगे चलकर स्नेहका धागा टूट न जाय। वर कन्यासे कहता है ध्रुवं पश्य—ध्रुवको देखो। ध्रुव उनके निश्चल, अटल प्रेमका प्रतीक है। कन्या अश्म—पत्थर—पर खड़ी होती है। यह पत्थर यह पुकार कर कहता है कि इनका सम्बन्ध पुरातन पहाड़ोंके समान दृढ़ और स्थिर रहेगा। कन्या वरके साथ दासीके रूपमें नहीं जाती। वह उसके बराबर पद रखती है। उसकी अनुचरा नहीं, सहकर्म्मिणी है, वर पत्नी कहते हैं:

> **समञ्जन्तु विश्वे देवाः, समापो हृदयानि नौ।**
> **सं मातरिश्वा सं धाता, समु देष्ट्री दधातु नौ ॥ (सूर्य्याविवाह प्रकरण, ऋ० १०-८५-४७)**

विश्वेदेव और अप अभिमानी देवता हम दोनोंके हृदयोंको सब विषयोंमें प्रकाशयुक्त करें। मातरिश्वा, धाता और देष्ट्री (सरस्वती) हम दोनोंकी बुद्धियोंको परस्परानुकूला बनायें—

आपसके समझौतेके साक्षी देवगण होते हैं। अन्तमें सप्तपदी आती है। अग्निदेव, जिनकी वैदिक उपाधि ही व्रतपति है, वरकन्याके नवस्थापित

सम्बन्धको अपनी मुद्रासे अंकित करके उनको पतिपत्नी बना देते हैं। हमारा आदर्श यह है कि इस सम्बन्धको मृत्यु भी नहीं तोड़ सकती।

सारे कृत्यके अन्तमें उपस्थित लोगोंसे प्रार्थना की जाती है कि दम्पतीको आशीर्वाद दें। जो शब्द सूर्य्याके विवाहके अवसरपर उच्चरित हुए थे वही आज भी पढ़े जाते हैं :

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा याथास्तं विपरेतन॥

यह बधू सुमंगली—मंगलमयी—है, इसको सब लोग साथ देखें और इसको सौभाग्य देकर अपने अपने घर लौट जायं—

देवों और मनुष्योंके सामने, दोनोंका आशीर्वाद पाकर, विवाहसम्पन्न हुआ।

देवगण मनुष्योंके अग्रज, बड़े भाई, हैं। वह भी कभी मनुष्य थे। अपने उग्र तप और यज्ञसम्पादनके प्रसादसे आज जगतका संचालन कर रहे हैं। अनिद्रभावसे वह मनुष्योंके चरित्र देखते रहते हैं। पुण्यकर्म्माको प्रोत्साहन देने, धर्म्ममार्गसे डिगते हुएको सहारा देने, विवेककी टिमटिमाती शिखाको स्नेहदानसे उद्दीप्त करनेमें वह अपनेको धन्य मानते हैं। वह दण्ड भी देते हैं परन्तु उसी प्रकार जैसे माता और गुरु दण्ड देते हैं। उस दण्डमें भी प्यार छिपा होता है। पितृगण हमारे पूर्वज हैं। वह चाहते हैं कि उनके वंशज सन्मार्गपर चलें, यशके भागी हों, पितरोंकी कीर्तिका भी विस्तार करें। अधर्म्मी वंशजोंके कुकृत्य पितरोंको भी नीचे गिराते हैं। ऋषियोंने हमको ऋत और सत्यकी, चतुर्वर्गको प्राप्त करनेकी, शिक्षा दी है। स्वभावतः उनकी यह इच्छा होगी कि उनका बताया मार्ग बन्द न हो जाय। ज्ञानकी जो दीपशिखा उन्होंने प्रज्वलित की थी वह बुझने न पाये। जो मनुष्य अपने धर्म्मका अनुसरण करता है वह देवों, पितरों और ऋषियोंको प्रसन्न करता है, उन्होंने मानव समाज पर जो उपकार किये हैं उनको दूसरोंतक पहुँचाकर उनसे उऋण होता है। ईश्वर सत्य, शिव

और सुन्दर है, प्रेम और आनन्दस्वरूप है। इसीलिए कन्यादानका प्राचीन संकल्प कहता है कन्या वरको 'धर्म्मप्रजा सम्पत्त्यर्थ, यज्ञापत्त्यर्थं' के साथ साथ 'ब्रह्मदेवर्षिपितृतृप्त्यर्थ' दी जाती है। कन्यासे धर्म्म-प्रजाकी सम्पत्ति और यज्ञका सम्पादन होता है और इससे ईश्वर, देव, ऋषि और पितृ तृप्त होते हैं।

कहां यह उत्तुंग मेरु शिखर और कहां वर्तमान काल ! कितना पतन हुआ है। हिन्दू समाजके मर्मस्थानोंको जैसे विषशलाका भेदन कर गई है, ऊँचे आदर्शों तक आँख उठानेकी हममें क्षमता नहीं रह गई। पिछले एक हज़ार वर्षोंकी राजनीतिक दासताका यह कडुवा फल है। यही आश्चर्यकी बात है कि कुछ अवशेष रह गये हैं, जिनके सहारे हम फिर प्राचीन युगकी खोई बातोंका पता लगा सकते हैं।

कन्यादान सम्बन्धी जो दुर्व्यवस्था हुई है उसका मुख्य कारण मेरी समझमें दान शब्दका प्रयोग है। प्राचीन आचार्योंसे यह भूल हो गई। कभी कभी ऐसी भूलोंका बुरा परिणाम होता है। विज्ञान और दर्शनमें तो इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। एक ही निदर्शन अलम् है। कभी किसीने प्राणके लिए वायु शब्दका प्रयोग कर दिया। कुछ ऊपरी साम्य देखकर ही यह भूल हो गई। बस, फिर उस भूलको सुधारना तो दूर रहा, जो आया ईंट पर ईंट रखता गया। पाण्डित्यपूर्ण मूर्खतासे पुस्तकालय भर गये। नाड़ियोंमें छिद्र ढूंढ़े गये, हवा भर कर कपाल फोड़नेवाले योगियोंकी कहानियाँ सुनी जाने लगीं। कहाँ वह दिव्य शक्ति जो भौतिक और आध्यात्मिक अनेक रूपोंसे शरीरका संचालन कर रही है, जो रसायन, भौतिक विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान और मनोविज्ञानका विषय है और इन सबसे बाहर है, और कहाँ क्षुद्र हवा जो भूस्तत्वका एक भेद है ! ऐसी ही भूल दानके विषयमें भी हुई होगी। उस भूलका फल हम सब भोग रहे हैं। इतना ही नहीं बट वृक्षके समान भूलका कलेवर बढ़ता ही गया है।

दान शब्दका व्यवहार प्रायः उस प्रसंगमें किया जाता है जहाँ किसी-

के कष्ट निवारणार्थ उसे कुछ दिया जाता है। अन्न, वस्त्र, भूमि का दान होता है, विद्यादान और अभयदान किया जाता है। किसी बराबरवाले मित्रको कुछ देना भले ही दान कहलाये परन्तु साधारणतः व्यवहार वही है जिसकी ओर मैंने संकेत किया है। ऐसा दान शुद्ध निष्काम भावसे ईश्वरार्पण करके दिया जा सकता है परन्तु बहुधा दान सकाम ही होता है। यह नहीं कि देनेवाले दान पानेवालेसे प्रत्युपकारकी आशा रखते हैं परन्तु यह विश्वास रहता है कि कभी न कभी, कहीं न कहीं, किसी न किसी रूपमें, इस सत्कर्मका पुरस्कार मिलेगा। कर्म्मका सत्यसिद्धान्त कहिये, ईश्वर कहिये, नियति कहिये, कोई ऐसी शक्ति है जो भले बुरे कामोंका लेखा रखती है।

यदि कन्याका दान हो सकता है तो इस दानसे दाताको लाभ होना चाहिए। इस जन्ममें और इस शरीरसे तो कोई प्रत्यक्षलाभ होता नहीं। अतः पुण्यका संचय होता होगा। जब कर्ता दान करता है तो उसे पुण्य पर दृष्टि रखनेका अधिकार तो है ही, न रक्खे यह उसकी उदारता होगी। बार बार कन्यादानकी महिमा जताई गई है, कन्याका विवाह न करनेके पापकी ओर संकेत किया गया है, इससे यह तो प्रतीत होता ही है कि काम बड़ा है। इससे पुण्य भी बड़ा होगा। अतः दाताके बीस-पचीस कुटुम्बी उस पुण्यमें भाग पा जायँ तो अनुचित न होगा।

तर्ककी यह धारा ज्यों ज्यों आगे बढ़ी बुद्धि पीछे छूटती गई। केवल एक झीनीसी रेखा रह गई। सप्तपदीके पहिले वरके मर जाने पर कन्याके फिरसे व्याहे जानेकी अनुमति बच रही। लड़कीके घरका पानी पीना त्याज्य हो गया। जिस प्रकार भूमि या गऊ या कोई और दान पाकर ब्राह्मण दक्षिणा पाता है उसी प्रकार कन्यादानके बाद वरको भी दक्षिणा मिलने लगी। यह कोई नहीं देखता कि कन्यादानके इस रूपका शेष पद्धतिसे कहांतक सामंजस्य है। अपने स्वार्थके लिए मनुष्यका दान करना मानवताकी मर्य्यादासे नीचे गिरना है। मनुष्यको पशुपक्षीकी भांति देय वस्तु समझना पाप है। विवाहको वरवधू और उनकी सन्ततिके हितका साधन

न मानकर अपने हितका साधन मानना अनार्य्य है। संस्कार धर्म्मके विकास और प्रसारके लिए, नररूपी नारायणकी सेवाके लिए किये जाते हैं, कर्ताके निकृष्ट स्वार्थकी सिद्धिके लिए नहीं। परन्तु इन बातोंको कोई सोचता नहीं। मूर्ख और पण्डित सब आँख बन्द करके लकीर पीटते चले जा रहे हैं।

एक गऊ कई ब्राह्मणोंमें तो नहीं बांटी जा सकती परन्तु कई मनुष्य मिल कर एक गऊका दान कर सकते हैं। कुम्भस्नान और ग्रहणके अवसर पर तीर्थस्थानोंमें यह दृश्य बराबर देख पड़ता है। ब्राह्मण गऊ लिए खड़ा रहता है। लोग उसकी पूंछ पकड़कर दान देते जाते हैं। सबको पुण्य मिलता ही होगा। इसी प्रकार एक एक कन्याका कभी कभी बीसों स्त्री-पुरुष दान करते हैं। मानना चाहिए कि सबके ही हाथ कुछ पुण्य लग रहता होगा।

मैं किसीकी श्रद्धाका उपहास नहीं करना चाहता परन्तु यह कहना चाहता हूं कि इस श्रद्धाके लिए शास्त्रीय आधार नहीं है। पिछले एक सहस्र वर्ष हमारे लिए बुरे बीते हैं। राजनीतिक दासता जीवनको कृत्रिम बना देती है। स्त्रियोंको इस कालमें प्रकृत्या संकुचित होकर रहना पड़ा है, उनके व्यक्तित्वके प्रस्फुटित होनेके अवसर कम मिले हैं। अतः समाजमें उनका स्तर गिरता गया। हम एक अवतरण पहिले दे चुके हैं जिसके अनुसार कन्याको गउओं, बैलों और घोड़ोंसे बदला जा सकता है। एक अन्य स्मृतिमें कन्या, जूता, और छाताके दानका एक ही जगह उल्लेख किया गया है। यदि स्मृतिकार महोदयकी दृष्टिमें स्त्रियोंका आदर होता तो वह दूसरे श्लोककी रचना करते पर कन्याको इतना नीचे न गिराते।

अव इन बातों पर विचार करनेका समय आ गया है। हमारे धर्म्म-कृत्यों और संस्कारोंमें बहुतसा प्रक्षिप्तांश मिल गया है, उसको निकालकर दूर फेंकना ही श्रेयस्कर होगा। हमारे आदर्श और उनके दार्शनिक आधार प्राचीन परन्तु इसके साथ ही चिरनवीन हैं। उनमें स्फूर्ति देनेकी अद्भुत शक्ति है, उनके शुद्ध रूपका अवलम्बन करना हमारे लिए कल्याण-कारी होगा।

आधार पुस्तकोंकी सूची

गृह्यसूत्र

१. मानव गृह्यसूत्र, अष्टावक्रभाषासमेत
२. जैमिनि गृह्यसूत्र, श्रीनिवासी अध्वरिन् भाष्यसमेत
३. वाराह गृह्यसूत्र, गंगाधर और वशिष्ट पद्धतियोंके समेत
४. पारस्कर गृह्यसूत्र, हरिहर, कर्क, जयराम, गदाधर और विश्वनाथके भाष्योंके समेत
५. लौगाक्षि गृह्यसूत्र, देवपाल भाष्यसमेत
६. द्राह्यायण गृह्यसूत्र, रुद्रस्कन्द वृत्ति समेत
७. आपस्तम्ब गृह्यसूत्र, हरदत्त और सुदर्शनार्य्य भाष्यसमेत
८. आश्वलायन गृह्यसूत्र, हरदत्त मिश्रकी अनाविल वृत्ति समेत
९. कौषीतक गृह्यसूत्र, भवत्रात विवरण समेत
१०. अग्निवेश्य गृह्यसूत्र
११. गोभिल गृह्यसूत्र
१२. हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र
१३. खादिर गृह्यसूत्र, रुद्रस्कन्द भाष्यसमेत
१४. बोधायनीय गृह्यसूत्र
१५. वैखानस गृह्यसूत्र
१६. साङ्ख्वायन गृह्यसूत्र संग्रह, वासुदेव विद्वद्वर विरचित

धर्म्मसूत्र

१. गौतम धर्म्मसूत्र, हरदत्तकी मिताक्षरा वृत्ति समेत

२. बोधायन धर्म्मसूत्र, गोविन्दस्वामी विवरण समेत
३. वाशिष्ट धर्म्मसूत्र (शास्त्र)

स्मृति

१. बृहस्पति स्मृति
२. सम्वर्त स्मृति
३. वशिष्ठ स्मृति
४. पराशर स्मृति, माधव भाष्यसमेत
५. यमस्मृति
६. मनुस्मृति, कुल्लूकभट्ट भाष्यसमेत
७. याज्ञवल्क्य स्मृति, मिताक्षरा टीकासमेत
८. नारद स्मृति

फुटकर

१. संस्कार गणपति, रामकृष्णकृत
२. कृत्य कल्पतरु, भट्ट लक्ष्मीधरकृत
३. वीरमित्रोदय, मित्रमिश्रकृत
४. दानक्रिया कौमुदी, गोविन्दानन्दकृत
५. हेमाद्रि दान खण्ड
६. संस्कार पद्धति, भास्कर अभ्यंकरकृत
७. संस्कार विधि, स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत
८. हिन्दू किन्‌शिप, क० म० कपाडियाकृत
९. दि पोज़िशन आव विमेन
इन हिन्दू सिविलिज़ेशन, डा० आल्टेकरकृत
१०. ए शॉर्ट हिस्टरी आव विमेन, जे०-एल० डेयर्सकृत
११. एंशेण्ट लॉ, मेनकृत

ज्ञानपीठके सुरुचिपूर्ण हिन्दी प्रकाशन

श्री० बनारसीदास चतुर्वेदी	
हमारे आराध्य	३)
संस्मरण	३)
रेखाचित्र	४)
श्री० अयोध्याप्रसाद गोयलीय	
शेरोशायरी	८)
शेरोसुख़न [चारों भाग]	१७)
गहरे पानी पैठ	२॥)
जैन-जागरणके अग्रदूत	५)
श्री० कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर	
आकाशके तारे : धरतीके फूल	२)
ज़िन्दगी मुसकराई	४)
श्री० मुनि कान्तिसागर	
खण्डहरोंका वैभव	६)
खोजकी पगडंडियाँ	४)
डॉ० रामकुमार वर्मा	
रजतरश्मि [एकांकी]	२॥)
श्री० विष्णु प्रभाकर	
संघर्षके बाद [कहानियाँ]	३)
श्री० राजेन्द्र यादव	
खेल-खिलौने [कहानियाँ]	२)
श्री० मधुकर	
भारतीय विचारधारा	२)
श्री० सम्पूर्णानन्दजी	
हिन्दू विवाहमें कन्या-दानका स्थान	१)
श्री० हरिवंशराय बच्चन	
मिलनयामिनी [गीत]	४)
श्री० अनूप शर्मा	
वर्द्धमान [महाकाव्य]	६)
श्री० शान्तिप्रिय द्विवेदी	
पथचिह्न [संस्मरण]	२)
श्री० वीरेन्द्रकुमार एम० ए०	
मुक्तिदूत [उपन्यास]	५)
श्री० रामगोविन्द त्रिवेदी	
वैदिक साहित्य	६)
श्री० नेमिचन्द ज्योतिषाचार्य	
भारतीय ज्योतिष	६)
डॉ० जगदीशचन्द्र चतुर्वेदी	
दो हज़ार वर्ष पुरानी कहानियाँ	३)
श्री० नारायणप्रसाद जैन	
ज्ञानगंगा [सूक्तियाँ]	६)
श्रीमती शान्ति एम० ए०	
पंचप्रदीप [गीत]	२)
श्री० 'तन्मय' बुख़ारिया	
मेरे बापू [कविता]	२॥)

ज्ञानपीठके सांस्कृतिक प्रकाशन

१. महाबन्ध [महाधवल सिद्धान्त] भाग १-२	२३)
२. मदन पराजय	८)
३. कन्नड़ प्रान्तीय ताडपत्रीय ग्रंथसूची	१३)
४. न्यायविनिश्चयविवरण [भाग १-२]	३०)
५. तत्त्वार्थवृत्ति [हिन्दीसार सहित]	१६)
६. सभाष्य रत्नमंजूषा	२)
७. नाममाला सभाष्य	३।।)
८. केवलज्ञानप्रश्नचूड़ामणि	४)
९. आदिपुराण [भाग १-२]	२०)
१०. वसुनन्दि-श्रावकाचार	५)
११. तत्त्वार्थवार्तिक [राजवार्तिक भाग १]	१२)
१२. सर्वार्थसिद्धि	१२)
१३. जिनसहस्रनाम	४)
१४. समयसार [अंग्रेजी]	८)
१५. थिरूकुरल [तामिल भाषाका पंचमवेद] तामिल लिपि	५)
१६. जातक [प्रथम भाग] मूल अट्ठकथा सहित	६)
१७. आधुनिक जैनकवि	३।।।)
१८. जैन शासन [द्वितीय संस्करण]	३)
१९. हिन्दी जैन साहित्यका संक्षिप्त इतिहास	२।।।=)
२०. कुन्दकुन्दाचार्यके तीन रत्न	२)
२१. अध्यात्म-पदावलि	३।

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस ५